उद्देश्य

...ा संरक्षण तथा प्रसार।
...ा विवेचन।
...ा अनुसंधान।
...ज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है, और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक
कृष्णानंद
सहायक संपादक
पुरुषोत्तम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ४७] संवत् २००१ [अंक २-३

पूर्वा अर्थात् प्रशस्ति

[श्री बहादुरचंद्र छाबड़ा]

पूर्वा शब्द का अर्थ *प्रशस्ति* भी होता है। आज नहीं तो प्राचीन काल में यह शब्द उक्त अर्थ में अवश्य प्रसिद्ध था—प्रस्तुत लेख में हम इसी बात को सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे। संस्कृत वाङ्मय में ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जो कभी किसी ऐसे विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ करते थे जिसका आगे चलकर सर्वथा लोप हो जाता है—उसमें से मानो जीव चला जाता है और पंजर मात्र शेष रह जाता है। प्रशस्तिवाचक पूर्वा शब्द ऐसे शब्दों में से एक है। इसके विगत जीवन का भास न तो हमें संस्कृत के विशाल साहित्य से मिलता है और न कोषग्रंथों से। हाँ, प्राचीन शिलालेखों में इसका जहाँ-तहाँ प्रयोग मिलता है और उन्हीं के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि *पूर्वा* शब्द कभी *प्रशस्ति* अर्थात् *स्तुति-परक काव्य* के अर्थ में प्रचलित था।

आश्चर्य की बात यह है कि जिन विद्वानों ने ऐसे अभिलेखों का संपादन किया है उन्होंने पूर्वा के उक्त विशिष्ट अर्थ को नहीं भाँपा। वे इसे विशेषण ही मानते आए हैं एवं विशेष्य के स्थान पर प्रशस्ति अथवा तत्सदृश किसी संज्ञापद का अध्याहार कर निर्वाह करते रहे हैं। उनका यह अनुमान ठीक नहीं प्रतीत होता। जिन उदाहरणों को हम नीचे उद्धृत करेंगे उनसे स्पष्ट है कि तत्तत् परिपाठ में *पूर्वा* स्वयं एक संज्ञापद है और उसका तात्पर्य *प्रशस्ति* ही है।

उदाहरण देने से पहिले हम यह भी बता देना चाहते हैं कि जिन शिलालेखों में विवेचनीय पूर्वा पद का प्रयोग मिलता है वे समय की दृष्टि से विक्रम संवत् के अनुसार छठी शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के अंदर अंदर के हैं, किंच वे अतिविभिन्न प्रदेशों से प्राप्त हुए हैं, जैसे नेपाल, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्य भारत, मध्य प्रदेश और हैदराबाद। इससे हमें प्रशस्ति के अर्थ में प्रयुक्त पूर्वा शब्द के मानो जीवन-इतिहास का अच्छा आभास मिलता है। इसका प्रयोग भिन्न भिन्न स्थानों में होता था और सदियों तक होता रहा।

यहाँ हम एक और बात भी बता दें। कई एक प्राचीन अभिलेखों में पूर्वा शब्द तिथि आदि के विवरण में भी प्रयुक्त हुआ मिलता है—अस्यां पूर्वायाम्, एतस्यां पूर्वायाम्, इत्यादि।[1] प्रकृत में हमने ऐसे प्रयोगों का विवेचन नहीं किया। उन्हें हम यहाँ प्रसंगबाह्य समझते हैं।

अब हम प्रस्तुत पूर्वा शब्द के निदर्शनों को लेते हैं—

१

सबसे पहिले हम कुमारगुप्त प्रथम और बंधुवर्मा के समय के उस शिलालेख को लेते हैं जो मध्य भारत में मंदसौर नामक नगर के पास मिला था। इसका प्रतिपाद्य विषय है सूर्य के एक मंदिर का निर्माण एवं कालांतर में उसका जीर्णोद्धार। यह एक कवितामयी रचना है जिसमें ४४ पद्य हैं। इसका रचयिता वत्सभट्टि अंतिम श्लोक के उत्तरार्ध में अपना परिचय यों देता है—

पूर्वा चेयं प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना ॥

अर्थात् 'और वत्सभट्टि ने बड़े यत्न से इस पूर्वा को रचा है।'

डा० जॉन फेथफुल फ्लीट जिन्होंने इस शिलालेख का संपादन किया है, उक्त पद्यार्ध में पूर्वा पद को विशेषण मानकर, संज्ञापद के रूप में प्रशस्ति शब्द को

१—न्यु इंडियन एंटिक्वेरी (जिल्द १, १९३८, पृष्ठ १४२-३) में डाक्टर देवदत्त रामकृष्ण जी भांडारकर ने इस प्रकरण में प्रयुक्त पूर्वा शब्द पर कुछ चर्चा की है। परंतु उनका विशेष लक्ष्य तिथियों के संबंध में प्रयुक्त पूर्वा शब्द पर ही रहा है। प्रशस्ति के अर्थ में इसके प्रयोग की व्यापकता पर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। पूर्वा को उन्होंने संज्ञापद अवश्य माना है और उसका अर्थ किया है 'विवरणमय अनुक्रम' अथवा 'वर्णनात्मक क्रम' ('डिटेल्ड ऑर्डर' अथवा 'डिस्क्रिप्टिव सीक्वेंस')।

अपनी ओर से जोड़कर (स्वकल्पित) कमी को पूरा करते हैं।[२] उनके मतानुसार हमें यह मानना पड़ेगा कि जिस कवि ने 'बड़े यत्न से' उक्त काव्य की रचना की है वह या तो पद्य में *प्रशस्तिः* पद को रखना भूल गया है या इसे वहाँ विन्यस्त करने में असमर्थ रहा। आदमी से भूल हो ही जाती है। इससे फ्लीट के मत के मान्य होने में कोई विशेष आपत्ति नहीं। परंतु बात यह है कि हमारे पास ऐसी 'भूलों' का एकाध ही निदर्शन नहीं, अपितु कई एक हैं। इससे अनुमान होता है कि पूर्वा शब्द स्वयं ही प्रशस्ति का पर्याय है।

२

मंदसौर वाले जिस अभिलेख का हमने ऊपर उल्लेख किया है उसमें दो तिथियाँ दी हुई हैं—एक जब मंदिर बना था और दूसरी जब उसका जीर्णोद्धार हुआ था। पहिली है संवत् ४९३ और दूसरी है संवत् ५२९। यह दूसरी तिथि ही अभिलेख की तिथि भी मानी गई है। लगभग इसी समय के दो और अभिलेख हैं जो बौद्ध मत से संबंध रखते हैं। ये दोनों हैदराबाद राज्य के अंतर्गत अजंटा की जगद्विख्यात गुहाओं में विद्यमान हैं। इनमें से एक तो छब्बीसवीं गुहा में है। इसे पंडित भगवान लाल इंद्रजी तथा प्रोफेसर जार्ज बुह्लर ने संपादित किया है। उक्त शैल-गुहा बुद्धभद्र नामक एक बौद्ध आचार्य द्वारा खुदवाई गई थी। जैसा कि अंतिम पद्य से पता चलता है, अभिलेख की रचना भी इसी आचार्य ने की थी—

पूर्व्वापि चेयं तेनैव द्रि(इ)र्व्वाचार्येण सौगती।

अर्थात् 'भगवान् बुद्ध संबंधी इस प्रशस्ति का गुंफन भी उसी आचार्य ने किया है।'

इस निदर्शन से हमें यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वा शब्द संज्ञापद के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। यहाँ इसका विशेषण है 'सौगती' अर्थात् सुगत से संबंध रखनेवाली।

इतना होते हुए भी अभिलेख के संपादकों ने प्रकृत में प्रयुक्त पूर्वा पद के रहस्यार्थ को नहीं समझा। उन्होंने इसे विशेषण ही माना है। यहाँ यह बता देना आवश्यक जान पड़ता है कि अभिलेख कुछ खंडित है और प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध में कई एक अंश विनष्ट हो गए हैं। बुह्लर का कहना है कि पद्य में प्रशस्ति पद अवश्य विद्यमान था परंतु पद्य के चौथे पद के लुप्त हो जाने से हमारे लिये उसका

२—फ्लीट द्वारा संपादित गुप्त-अभिलेख-माला (कर्पुस् इंसक्रिप्शनुम् इंडिकारुम्। जिल्द ३, कलकत्ता, १८८८) पृष्ठ ८४, टिप्पणी २।

भी लोप हो गया है। इस विषय में उनकी टिप्पणी ध्यान देने योग्य है—"प्रकृत पाठ *सौगती* है या *सौगतीम्*—इसमें संदेह हो है। यदि पाठ *सौगती* है तब वह अवश्य ही *प्रशस्तिः* पद का विशेषण रहा है और *प्रशस्तिः* पद निःसंदेह खंडित श्लोक के चौथे चरण में था ही। यदि पाठ *सौगतीम्* है तो वह *लोक चि[न्तां]* का विशेषण था।"[३] बुह्लर के अनुवाद से यह स्पष्ट है कि *सौगती* पाठ को ही वे अधिक मान्य समझते थे—"यह बौद्ध [अभिलेख अथवा प्रशस्ति] भी जो ऊपर दी गई है, आचार्य द्वारा रची गई है...।"[४]

दूसरे शब्दों में बुह्लर के अनुसार मूल पाठ (दंडान्वय में रखने से) *इयं पूर्वा सौगती प्रशस्तिः था।* यहाँ *पूर्वा* शब्द न तो आवश्यक ही है और न संस्कृत के मुहावरे के अनुसार। इसके विपरीत *पूर्वा* शब्द को ही यदि हम *प्रशस्ति* का पर्याय मान लें (और प्रकृत में *प्रशस्तिः* पद का अभाव ही मानें) तो वैसी कोई अड़चन अथवा असमंजसता नहीं खड़ी होती। उस अवस्था में मूल पाठ *इयं सौगती पूर्वा* ही रहेगा।

आगे के उदाहरण से हमें इस विषय में और भी अधिक जानकारी मिलती है। उसमें प्रयुक्त *पूर्वा* पद जहाँ आता है वहाँ उसका अर्थ *पूर्वोक्त* अथवा *उपर्युक्त* हो ही नहीं सकता।

३

यह उदाहरण अजंटा की सोलहवीं गुहा के अभिलेख में मिलता है। इसे भी भगवानलाल इंद्रजी और बुह्लर ने ही संपादित किया था। कुछ साल हुये प्रो० मिराशी ने इसका पुनः संपादन किया है। इस अभिलेख का प्रतिपाद्य विषय है वाकाटक सम्राट् हरिषेण के मंत्री वराहदेव द्वारा उक्त गुहा-विहार का निर्माण। औचित्य के अनुसार प्रशस्तिकार ने प्रशस्ति के आरंभ में वत्सगुल्मीय शाखा के वाकाटक वंश के कई एक राजाओं का वर्णन किया है। प्रशस्ति के सबसे पहिले पद्य में ही, इसका रचयिता भगवान् बुद्ध को नमस्कार करके कहता है कि—

पूर्व्वां प्रवक्ष्ये क्षितिपानुपूर्व्वीम् ॥

अर्थात् "मैं पूर्वा कहूँगा जिसमें राजाओं की परंपरा भी वर्णित होगी।"

३—आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑव् वेस्टर्न इंडिया, जिल्द ४ (रिपोर्ट ऑन द बुद्धिस्ट केव टेंपल्स ऐंड देयर इंस्क्रिप्शन्स, जेस बर्जेस कृत, लंडन, १८८३) पृष्ठ १३४, टिप्पणी ६

४—वही, पृष्ठ १३६

प्रस्तुत पूर्वा के रचयिता को अनुप्रास में बड़ी रुचि थी। इसका परिचय उसने पहिले ही पद्य में *पूर्वा प्रवक्ष्ये क्षितिपानुपूर्वीम्* कहकर दे दिया है। आगे के पद्यों में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।[५]

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उक्त पद्यांश की व्याख्या विद्वानों ने वैसी नहीं की जैसी कि हमने ऊपर की है। करते भी तो कैसे ? जब किसी को यह संशय ही न उठे कि *पूर्वा* जैसे शब्द का अर्थ *प्रशस्ति* भी हो सकता है तो वह वैसी व्याख्या क्यों करने लगा ? किंच, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, प्रकृत परिपाठ में *पूर्वा* पद का तात्पर्य *पूर्वोक्त* अथवा *उपर्युक्त* नहीं हो सकता। फलतः भगवानलाल इंद्रजी ने इसका अर्थ किया है *प्राचीन* (अर्ली early), और बुहर ने, एवं तदनुसार मिराशी ने, इसका अर्थ किया है पुरानी (एंशेंट ancient)।[६]

प्रश्न यह होता है कि इन विद्वानों को इस बात की शंका तक भी क्यों न हुई कि प्रकृत में *पूर्वा* पद का अर्थ कुछ और भी हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि जिस *क्षितिपानुपूर्वी* को हमने बहुव्रीहि समास माना है, वह तत्पुरुष समास भी हो सकता है। अर्थ में तिल-ताड़ का सा अंतर जा पड़ता है। दूसरे शब्दों में हमने *पूर्वा* को तो माना है विशेष्य और *क्षितिपानुपूर्वी* को उसका विशेषण ; तद्विपरीत भगवानलाल इंद्रजी एवं अन्य विद्वानों ने *क्षितिपानुपूर्वी* को माना है विशेष्य और *पूर्वा* को उसका विशेषण।

अब देखना यह है कि दोनों में कौन सा पक्ष समंजस है। सामान्यतः भगवानलाल इंद्रजी के मत पर कोई आपत्ति नहीं उठ सकती। वास्तव में देखा जाय तो जब तक हमें यह पता ही नहीं था कि *पूर्वा* का अर्थ कदाचित् *प्रशस्ति* भी हो सकता है तब तक उन्हीं की व्याख्या मान्य थी, और कोई व्याख्या संभव ही नहीं थी। परंतु अब जब कि *पूर्वा* को *प्रशस्ति* का पर्याय मानने में अनेक प्रमाण मिल रहे हैं तो नई व्याख्या भी संगत प्रतीत होती है। किंच, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अभिलेख का मुख्य विषय है मंत्री के विहार-निर्माणात्मक पुण्य कार्य का श्लाघापरक वर्णन। उसमें मंत्री के उपजीव्य वाकाटक सम्राट् के वंश का जो वर्णन

५—हैदराबाद आर्क्यालॉजिकल सीरीज़, नं० १४—वाकाटक इंसक्रिप्शन् इन् केव १६ ऐट अजंटा, हैदराबाद, १९४१, पृष्ठ ४, जहाँ प्रो० मिराशी ने इस बात पर अच्छा प्रकाश डाला है।

६—वही, पृष्ठ १३

आ गया है वह तो एक गौण विषय ही है—स्वयं मंत्री की दृष्टि में चाहे वह कितना भी महत्त्व रखता हो। इस बात को ध्यान में रखते हुए नई व्याख्या संगत ही नहीं अपितु अधिक उपादेय जँचती है। इसकी पुष्टि अजंटा से ही प्राप्त एक अन्य अभिलेख से भी होती है। यह अभिलेख सतरहवीं गुहा में है। इसका संपादन भी पूर्वोक्त विद्वानों द्वारा हुआ है। इसमें *पूर्वा* अथवा *प्रशस्ति* शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ, परंतु ऐसे एक समस्त पद का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ वही जा बैठता है। सोलहवीं गुहा में के अभिलेख में जैसे भगवान् बुद्ध को नमस्कार करने के समनंतर प्रतिपाद्य विषय का निर्देश मिलता है, वैसे ही इस अभिलेख के सर्वप्रथम पद्य के उत्तरार्ध में विषय-निर्देश किया गया है, जो यों है—

विहारदातुर्व्यवदातकर्म्मणो
गुणाभिधानोपनयं करिष्यते ॥[७]

अर्थात् 'उस पुण्य कर्म करनेवाले व्यक्ति का गुणगान उपस्थित किया जायगा जिसने इस विहार का (निर्माण करवा कर) दान दिया है।'

एक ने जहाँ *पूर्वा प्रवक्ष्ये* कहा, वहाँ दूसरे ने *गुणाभिधानोपनयः करिष्यते* कह दिया। बात एक ही है। वास्तव में देखा जाय तो *प्रशस्ति* का अर्थ *गुणाभिधानोपनय* ही तो है। और अब हम यह भी कह सकते हैं कि प्रकृत में *पूर्वा* पद भी इसी अर्थ का व्यंजक है। *पूर्वा* के इस अर्थ का समर्थन आगे दिए गए उदाहरणों से भी होता है।

४

कालक्रम के अनुसार अगला उदाहरण हमें सुदूर उत्तर से मिलता है। उत्तर प्रदेश के बारावंकी जिले में हड़ाहा नामक गाँव के पास एक शिलालेख मिला था। यह शिलापट्ट अब लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में पड़ा है। पं० हीरानंद शास्त्री ने इस अभिलेख का संपादन किया है। इस अभिलेख का प्रतिपाद्य विषय है एक मौखरि राजा द्वारा संवत् ६११ में एक शिव-मंदिर का जीर्णोद्धार। अभिलेख कवितामय है जिसमें २३ सुंदर पद्य हैं। इसका रचयिता है रविशांति जो अपना परिचय अंतिम पद्य में इस प्रकार देता है—

७—आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इंडिया, मेमॉयर सं० १०, पृष्ठ ७३; आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इंडिया, जिल्द ४, पृष्ठ १२; और हैदराबाद आर्क्यालॉजिकल सीरीज़, नं० १४, पृष्ठ १०।

कुमारशान्तेः पुत्रेण गर्गराकटवासिना ।
नृपानुरागात्पूर्व्वेयमकारि रविशान्तिना ॥

अर्थात् 'राजा के प्रति प्रेम के कारण, गर्गराकट-निवासी कुमारशांति के पुत्र रवि-शांति ने यह पूर्वा रची है।'

इसमें शंका का कोई अवकाश नहीं, तो भी विद्वान् संपादक को यहाँ *पूर्वा* पद के अर्थ में कुछ व्यामोह सा हो गया जान पड़ता है। अन्य विद्वानों की भाँति पं० हीरानंद शास्त्री ने भी इसे विशेषण मानकर और *प्रशस्ति* पद का अध्याहार कर निर्वाह किया है।[८] किंच, उन्होंने मूलपाठ को अशुद्ध मानकर *पूर्व्वा* के स्थान पर *पूर्व्या* पढ़ने की अनुमति दी है।[९] परंतु अब हम समझ सकते हैं कि न तो इस रूपांतर की ही आवश्यकता है और न *प्रशस्ति* जैसे किसी शब्दांतर के अध्याहार की। स्वयं *पूर्वा* पद ही यहाँ प्रशस्ति का वाचक है।

५

सातवीं शताब्दी का एक और भी अभिलेख है जिसमें *पूर्वा* पद का *प्रशस्ति* अर्थ में प्रयोग मिलता है। यह अभिलेख बेतवा (वेत्रवती) नदी के किनारे एक चट्टान पर खुदा है। उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले के अंतर्गत देवगढ़ नाम का जो जैनों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है और जहाँ गुप्तकालिक मूर्ति-मंदिरादि ध्वंसावशेष भी मिले हैं, वहीं पर उक्त अभिलिखित चट्टान भी है। अभिलेख का संपादन रायबहादुर दयाराम साहनी ने किया है। इसमें सप्त-मातृकाओं की मूर्तियों की प्रतिष्ठा का उल्लेख है—मूर्तियाँ भी अभिलेख के पास ही खुदी हैं। प्रतिष्ठापक का नाम स्वामिभट दिया है। अभिलेख में सात ही पद्य हैं। कविता अति भव्य है। यह छोटी सी कविता जात नामक कवि की कृति है जैसा कि अंतिम पद्य से स्पष्ट है—

जातेनाकारि पूर्व्वेयं यज्ञदत्ताङ्गजन्मना ।

अर्थात् 'यज्ञदत्त के पुत्र जात ने यह पूर्वा रची है।'

रायबहादुर दयाराम साहनी की दृष्टि भी *पूर्वा* के विलक्षण अर्थ पर नहीं पड़ी। प्रकृत में उन्होंने भी इसे विशेषण मानकर इसका अर्थ *प्रमुख* (फ़ोरमोस्ट fore-most) किया है और *प्रशस्ति* पद का अध्याहार किया है, जैसा कि उनके अनुवाद

८—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १४, पृष्ठ १२० पर उनका अनुवाद द्रष्टव्य है।
९—वही, पृष्ठ ११८, टिप्पणी १

से प्रकट है।[10] अब यह बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि ऐसे प्रकरणों में पूर्वा शब्द *प्रशस्ति* का पर्याय ही है।

६

ऊपर हमने जिस अभिलेख की चर्चा की है उसमें संवत् आदि नहीं दिया गया। उसे अनुमानतः सातवीं शताब्दी का माना गया है। परंतु राजस्थान में तीन ऐसे प्राचीन शिलालेख मिले हैं जिनमें संवत् का निर्देश किया गया है और *पूर्वा* का प्रस्तुत प्रयोग भी। इनमें से सर्वप्रथम अभिलेख संवत् ६८२ का है। यह सिरोही राज्य में वसंतगढ़ नामक स्थान पर मिला था। इसमें वर्मलात नामक एक राजा का उल्लेख किया गया है। अभिलेख का विषय है क्षेमार्या (दुर्गा) देवी के मंदिर की प्रतिष्ठा। अभिलेख में १२ पद्य हैं जिनके बाद कई व्यक्तियों के नाम दिए गए हैं जिन्होंने गोष्ठी के रूप में मिलकर उक्त मंदिर की प्रतिष्ठा करवाई थी। अंतिम पद्य में अभिलेख को उत्कीर्ण करनेवाले एवं उसके रचयिता के नाम दिए गए हैं—

दिवाकरसुतस्यैयं धूर्तराशेर्द्विजन्मनः।
पूर्व्वातिमृदुभिर्व्वर्णैः प्रोत्कीर्णा नागमुण्डिना ॥[11]

अर्थात् 'अतिमधुर शब्दों में (रची हुई) यह पूर्वा दिवाकर के पुत्र ब्राह्मण धूर्तराशि की (कृति) है, (और इसे) अति सुंदर अक्षरों में नागमुंडि ने (पत्थर पर) उकेरा है।'

इस पद्य में आए हुए *अतिमृदुभिर्व्वर्णैः* का काकाक्षिगोलक न्याय से दोनों ओर अन्वय होता है।

इस अभिलेख का संपादन डा० भांडारकर के हाथों हुआ है। परंतु उन्होंने प्रकृत पूर्वा पद के अर्थ के विषय में अपना मत प्रकट नहीं किया, न उन्होंने अभिलेख का अनुवाद ही दिया है। हाँ, अभिलेख का परिचय देते हुए उन्होंने इसे *प्रशस्ति* नाम अवश्य दिया है।[12]

७

राजस्थान के दूसरे अभिलेख का निदर्शन और भी अधिक रुचिकर है। यह

१०—वही, जिल्द १८, पृष्ठ १२७

११—वही, जिल्द ९, पृष्ठ १९२

१२—वही, पृष्ठ १८९

एक शिलापट्ट पर उत्कीर्ण है जो मेवाड़ में मिला था।[13] अब यह उदयपुर में विक्टोरिया हाल में रखा है। यह संवत् ७१८ का है। प्रो० कीलहार्न ने इसका संपादन किया है। गुहिलवंशी राजा अपराजित के सेनापति की धर्मपत्नी यशोमती ने विष्णु का मंदिर बनवाया था—यही इस अभिलेख का प्रतिपाद्य विषय है। वह १२ पद्यों की एक भव्य कविता है। कवि अपनी नम्रता दिखाते हुए इसे 'काव्यविडम्बना' कहता है। अंतिम पद्य में इसे पूर्वा कहा है—

बालेनाजितपौत्रेण स्फुटा वत्सस्य सूनुना।
यशोभटेन पूर्वेयमुत्कीर्णा विकटाक्षरा॥

अर्थात् 'अजित के पौत्र और वत्स के पुत्र नवयुवक यशोभट ने इस पूर्वा को सुस्पष्ट और बाँके अक्षरों में उत्कीर्ण किया है।'

विज्ञ संपादक ने अभिलेख का अनुवाद नहीं दिया और न पूर्वा के अर्थ के विषय में अपना मत ही प्रकट किया है। हाँ, पूर्वा के इसी प्रकार के तीन और उदाहरणों की ओर संकेत करते हुए[14] उन्होंने इस बात को अवश्य इंगित किया है कि इसका अवश्य ही कोई असाधारण अर्थ होना चाहिए। इससे यह भी स्पष्ट है कि दूसरे विद्वानों ने ऐसे स्थलों पर पूर्वा का जो पूर्वोक्त अथवा उपर्युक्त अर्थ किया है, प्रो० कीलहॉर्न उससे संतुष्ट नहीं थे। उनकी शंका ठीक ही थी। उसका समाधान यही प्रतीत होता है कि *पूर्वा* स्वयं एक संज्ञापद है जिसका अर्थ उक्त परिपाठों में *प्रशस्ति* ही है।

८

प्रो० कीलहॉर्न ने जो तीन उदाहरण दिए हैं उनमें से एक तो राजस्थान के झालावार राज्य में झालरापाटन नामक स्थान से प्राप्त एक शिलालेख में मिलता है। यह अभिलेख राजा दुर्गगण के राज्यकाल का है और संवत् ७४६ का है। इसका संपादन बुह्‌लर द्वारा हुआ है। वोप्पक नाम के एक सज्जन ने शिवमंदिर बनवाया था—यही अभिलेख का विषय है। हमारे लिये यह अभिलेख बहुत ही महत्त्व का है क्योंकि इसके अंतिम पद्यों में इसे *प्रशस्ति* भी कहा है और *पूर्वा* भी। खेद की

१३—भांडारकार की लिस्ट ऑव् इंस्क्रिप्शन्स ऑव् नार्दर्न इंडिया, सं० १३, के अनुसार यह उदयपुर राज्य के अंतर्गत नागदा नाम के स्थान से प्राप्त हुआ था।

१४—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ४, पृष्ठ ३२, टिप्पणी ४। प्रो० कीलहार्न ने जो तीन उदाहरण दिए हैं वे हमारे सं० १, ८ और १२ के अंतर्गत दिए गए हैं।

बात यह है कि पूर्वा वाले स्थान में ब्लूलर महोदय ने पढ़ने में एक छोटी सी भूल कर दी है। और इसी भूल के कारण अर्थ का अनर्थ हो गया है। प्रशस्ति में १३ पद्य हैं। बारहवाँ पद्य प्रशस्ति के रचयिता का वर्णन करता है, और तेरहवाँ इसे उकेरनेवाले का। बारहवें में रचना को प्रशस्ति नाम दिया है और तेरहवें में पूर्वा। इन दो पद्यों का पाठ यों है—

रम्यैर्ज्जनप्रतीतैरर्थानुगतैरकर्कशैश्शब्दै [: । ॐ][15]
रचितेयमनभिमानात्प्रशस्तिरपि भट्ट शर्व्वगुप्तेन ॥
अच्युतस्य सु[तेनेयं] सूत्रधारेण धीमता ।
उत्कीर्ण्णा वामनेनेह पूर्व्वा विज्ञानशालिना ॥

अंतिम चरण का पाठ जो ऊपर दिया गया है, है वही सही, परंतु बुह्लर महाशय ने इसे *पूर्व्वविज्ञानशालिना* पढ़कर तिल-ताड़ का सा अंतर कर दिया है। उन्होंने इसे एक समस्त पद मानकर वामन का एक अनोखा विशेषण बना दिया है। इसमें पढ़े (अपने पढ़े हुए) पूर्व्व पद का अर्थ उनके अनुसार 'मूल' (ओरिजिनल) है। पूरे विशेषण का अर्थ वे करते हैं—'जो मूल को समझने में समर्थ था।' ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी इस टीका से उन्हें पूरी तसल्ली नहीं हुई। एक टिप्पणी जोड़कर उन्होंने अपने आशय को समझाने का यों प्रयत्न किया है—"पूर्वविज्ञानशालिना का शब्दशः अर्थ तो है 'वह जो पूर्वोक्त विषय को पूरी तरह समझने में समर्थ है' परंतु इसका तात्पर्य कदाचित् यह है कि सूत्रधार एक ऐसा व्यक्ति था जो संस्कृत भाषा जानता था।"[16] यह बताने की आवश्यकता नहीं कि मूलपाठ में पढ़ने की एक छोटी सी चूक कर—*पूर्वा* के स्थान पर *पूर्व* पढ़कर—बुह्लर महाशय को कैसा द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ा, ऊहापोह के लंबे झमेले में उलझना पड़ा। ऊपर उद्धृत दो पद्यों का सीधा-सादा अर्थ यों है—

'यह प्रशस्ति भी भट्ट शर्वगुप्त ने नम्रतापूर्वक ललित सुगम सार्थक और कोमल शब्दों में रची है।'

१५—इंडियन एंटिक्वेरी, जिल्द ५ (१८७६), पृष्ठ १८१। मूल पाठ में शब्दै मात्र है, उसके आगे विसर्ग एवं पद्यार्धद्योतक दंड नहीं दिए गए। उस अवस्था में विसर्ग-लोप संधि के नियमों के अनुकूल ही है क्योंकि आगे *रचिते*० का रेफ है। दूसरे पद्य में मूल में एक दो भूलें हैं—*सूत्रधारेण* के स्थान पर *सुत्रधारेन* है और *वामनेन* के स्थान पर *वामणेन* है।

१६—वही, पृष्ठ १८२, अंतिम टिप्पणी।

'अच्युत के पुत्र बुद्धिमान् अनुभवशाली सूत्रधार वामन ने इस पूर्वा को यहाँ (इस शिलापट्ट पर) खोदा है।'

६

अब हम एक ऐसा उदाहरण देते हैं जिससे रहासहा संशय भी उच्छिन्न हो जायगा। यह एक शिलालेख में है जो नेपाल की राजधानी काठमांडू के पास मिला था। इसे भगवानलाल इंद्रजी एवं बुह्लर ने मिलकर संपादित किया है। यह अभिलेख हर्ष संवत् १५३ का है जो विक्रम संवत् ८१६ के बराबर समझिए। राजपरिवार के लोगों ने भगवान् शंकर पर चाँदी-सोने के कमल बनवाकर चढ़ाए थे—यही इस अभिलेख का प्रधान विषय है। यह एक अत्युत्तम और सरस कविता है। इसमें सब मिलाकर ३४ पद्य हैं, जिनमें से ५ स्वयं राजा की कृति हैं और बाकी उसके आश्रित बुद्धकीर्ति नामक एक विद्वान् की—

श्लोकान्पञ्च विहाय साधु रचितान्प्राज्ञेन राज्ञा स्वयं।
स्नेहाद्भूर्भुजि बुद्धकीर्त्तिरकरोत्पूर्व्वामपूर्व्वामिमाम् ॥[१७]

अर्थात् 'उन पाँच पद्यों को छोड़कर जो बुद्धिशाली राजा ने स्वयं बड़ी उत्तमता से रचे हैं, (बाकी की) इस अपूर्व पूर्वा को, राजा के प्रति प्रेमभाव से, बुद्धकीर्ति ने रचा है।'

यहाँ *पूर्वामपूर्वामिमाम्* में अनुप्रास की छटा ध्यान देने योग्य है। *पूर्वा* पद को *प्रशस्ति* का पर्याय मानने के प्रमाण में यही एक उदाहरण पर्याप्त है—*इमाम् अपूर्वाम् पूर्वाम् अकरोत्* वाक्य सर्वथा पूर्ण है। जरा भी सापेक्ष नहीं। किसी शब्द के अध्याहार की आवश्यकता नहीं। इतना होते हुए भी आश्चर्य है कि विद्वान् संपादकों ने प्रकृत में *पूर्वा* और *अपूर्वा* दोनों पदों को विशेषण ही मानकर *प्रशस्ति* पद का अध्याहार किया है जैसा कि उनके अनुवाद से स्पष्ट है। *इमाम्* का तो उन्होंने अनुवाद किया ही नहीं, *पूर्वाम्* का अर्थ किया है *उपर्युक्त* (दि एबव) और *अपूर्वाम्* का *मौलिक* (ओरिजिनल); और आगे *प्रशस्ति* (यूलॉजी) अपनी ओर से जोड़ दिया है।[१८]

प्रकृत वाक्य का यथार्थ भाव यही है कि 'बुद्धकीर्ति ने इस अनुपम प्रशस्ति को रचा।'

१७—वही, जिल्द ६, पृष्ठ १८०

१८—वही, पृष्ठ १८२

१०

राजस्थान में जयपुर राज्य के अंतर्गत सकराई नामक गाँव से एक खंडित शिलालेख मिला था। इसमें भी *पूर्वा* का *प्रशस्ति* अर्थ में स्पष्ट प्रयोग मिलता है। इस अभिलेख पर भांडारकर जी ने टिप्पणीमात्र की है।[१६] इसका अभी यथावत् संपादन नहीं हुआ। यह संवत् १०५५ का माना जाता है। मुझे इस अभिलेख की एक छाप देखने को मिली थी। अभिलेख पद्यमय है और इसके रचयिता का नाम इसके अंतिम पद्य में यों दिया है—

> पूर्व्वा विरचिता ह्येषा वराहेणाल्पमेधसा।

अर्थात् 'इस पूर्वा को अल्पबुद्धि वराह ने रचा है।'

११

एक और अति मनोज्ञ उदाहरण है जो *ग्यारहवीं-बारहवीं* शताब्दी के एक कलचुरि अभिलेख में मिलता है। यह मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में बिलहरी गाँव में उपलब्ध हुआ था। यह अभिलेख बहुत बड़ा है। वास्तव में इसमें दो पृथक् प्रशस्तियाँ हैं, एक का कर्ता श्रीनिवास है और दूसरी का सज्जन। बाद में अघोरशिव नामक एक शैव आचार्य ने इन दोनों को एकत्र कर दिया था। इसमें सब मिलाकर ८६ पद्य हैं। इसे प्रो० कीलहार्न ने संपादित किया है। चेदिराज केयूरवर्ष की रानी नोहला ने एक शिव-मंदिर बनवाया था। बाद में इनके पुत्र लक्ष्मणराज ने यह मंदिर माधुमतेय संप्रदाय के शैव आचार्यों को भेंट कर दिया था। यही सब वार्ता प्रकृत बृहत् अभिलेख का मुख्य विषय है।

तिरासीवें पद्य के बाद एक गद्यमय वाक्य में यह बताया गया है कि अघोरशिव ने दो प्रशस्तियों को एक कर दिया— *तेनेयं प्रशस्तिः संगतिमानीता*।

छियासीवाँ पद्य हमें यह बताता है कि प्रशस्ति के पाठ को नाई नामक एक व्यक्ति ने (शिलापट्ट पर) लिखा और नोन्न नामक एक दूसरे व्यक्ति ने उसे उकेरा—

> करणिकधीरसुतेन तु नाईनाम्ना प्रशस्तिरालिखिता।
> सत्सूत्रधारसङ्गमतनूजनोन्नेन चोत्कीर्णा॥

इस अंतिम पद्य से पहिले आर्या वृत्त में ही एक और पद्य है जिसे हम पचासीवाँ पद्य गिनते हैं। यह एक सारगर्भित पद्य है और सीरुक नामक एक

१६—भांडारकर कृत लिस्ट ऑव इंस्क्रिप्शन्स ऑव नार्दर्न इंडिया, नं० ९७। किंच, प्रोग्रेस रिपोर्ट, आर्क्यालॉजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्कल, १९०९–१०, पृष्ठ ५७

कायस्थ की रचना जान पड़ती है, क्योंकि पद्य के आरंभ में इसका नाम निर्दिष्ट है। इस आर्या का उत्तरार्द्ध यों है—

आस्तामियमाकल्पं कृतिश्च कीर्तिश्च पूर्व्वा च ॥

अर्थात् 'यह रचना—यह कीर्ति, यह प्रशस्ति—जब तक सृष्टि है तब तक रहे !'

एक ही वस्तु को तीन पृथक् नाम देकर, तीन पृथक् रूप देकर, कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। अपनी वचनभंगि से उसने केवल प्रशस्तिकारों को ही नहीं सराहा; अपितु साथ ही उनमें वर्णित चेदि राजाओं और रानियों के यश एवं पुण्यकार्यों की ओर भी संकेत कर दिया है।

कृतिश्च कीर्तिश्च पूर्व्वा च—यहाँ तीन समुच्चयार्थक चकारों का प्रयोग ध्यान देने योग्य है और सुतरां समीचीन है। इनमें तीन पृथक् वस्तुओं का भान होता है, यद्यपि उनका पर्यवसान एक में ही होता है। परंतु यहाँ भी विज्ञ संपादक ने *पूर्वा* के तात्त्विक अर्थ को नहीं भाँपा, और तीन वस्तुओं के स्थान पर दो ही वस्तुओं का उपादान किया है, *कृति* का और *कीर्ति* का। *कीर्ति* का अर्थ उन्होंने यहाँ *प्रशस्ति* (यूलॉजी) लिया है और *पूर्वा* को *कीर्ति* का विशेषण मानकर निर्वाह किया है।[२०] ध्यान रहे कि इस अवस्था में तीसरा चकार निरर्थक हो जाता है। यदि कवि को प्रो० कीलहॉर्न वाला अर्थ विवक्षित होता तो वह *कृतिश्च पूर्वा प्रशस्तिश्च* ही कह देता।

१२

एक और उदाहरण देकर हम वक्तव्य समाप्त करते हैं। मध्य भारत में ग्वालियर के सासबहू मंदिर में एक खंडित शिलालेख मिला है। इसमें एक शिव-मंदिर के निर्माण का उल्लेख है। अभिलेख का रचयिता एक जैन आचार्य प्रतीत होता है क्योंकि उसकी उपाधि *निर्ग्रन्थनाथ* दी हुई है। अभिलेख में २४ पद्य हैं। तेईसवें पद्य में रचयिता का परिचय यों दिया गया है—

........................निर्ग्रन्थनाथः ।
यः षड्भाषाविततकविताकेतु हर्म्यं कलानां
पूर्व्वामेतामकृत स मुनिः श्रीयशोदेवनामा ॥

अर्थात् 'इस पूर्वा को उस मुनिवर ने रचा है जिसका नाम है यशोदेव, जो निर्ग्रंथों का अग्रणी है और जो ललित कलाओं का मानो एक ऐसा आवास है जिसपर छः भिन्न भाषाओं में की हुई उसकी कविताएँ पताकाओं की भाँति लहरा रही हैं।'

२०—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १, पृ० २७०

इस प्रकार छः भाषाओं का विशेषज्ञ कवि, कलावास निर्ग्रंथनाथ, मुनि श्री यशोदेव अपनी प्रकृत रचना को *पूर्वा* नाम देता है।

हुल्श महोदय ने अभिलेख का अनुवाद नहीं दिया। हाँ, एक टिप्पणी में उन्होंने यह कहा है कि *पूर्व्वामिताम्* के आगे कदाचित् *प्रशस्तिम्* पद का अध्याहार अभीष्ट है।'[२१] परंतु ऊपर की चर्चा से यह निश्चित हो गया होगा कि अब ऐसे अध्याहार की आवश्यकता नहीं।

निष्कर्ष

अवगाहन करने से और भी उदाहरण ढूँढे जा सकते हैं, परंतु हमने जो ऊपर १२ उदाहरण दिए हैं वे कम नहीं। वे भिन्न भिन्न स्थानों से मिले और भिन्न-भिन्न समयों के अभिलेखों में मिलते हैं। उनके पिंडीभूत प्रमाण से हम बलात् इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि पूर्वा पद अवश्य ही एक समय *प्रशस्ति* के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था।

इस विषय में मैंने साहित्य के क्षेत्र में अभी कोई विशेष खोज नहीं की। ऐसा आभास अवश्य मिलता है कि साहित्य में भी हमारे मत की पुष्टि के लिये पर्याप्त प्रमाण होंगे।[२२]

२१—इंडियन् ऐंटिक्वेरी, जिल्द १५, पृष्ठ २०२, टिप्पणी १०

२२—हम यहाँ एक उदाहरण दिए देते हैं। निर्णयसागर प्रेस, बंबई में छपी बाणभट्ट कृत कादंबरी में (सप्तम संस्करण, पृष्ठ २१५, टिप्पणी ५) चंद्रापीड़ के दिग्विजय के वर्णन में *शासनानि* के ऊपर एक पाठांतर की ओर संकेत है। टिप्पणी में *पूर्वाः प्रशस्तीः* पाठ दिया है जिसका आशय समझना कठिन है। वस्तुतः उक्त वर्णन में कई एक शब्दों का अर्थ दुरूह प्रतीत होता है। हमने एक लेख में (सिद्ध-भारती, भाग १ पृष्ठ ३९) यह बताने का प्रयत्न किया है कि कादंबरी में इस प्रसंग में जो *कुर्वन् कीर्तनानि* पाठ है उसका भाव *हरिगुण-गानानि* कुर्वन् नहीं जैसा कि टीकाकार ने उक्त संस्करण में दिया है। इसका अर्थ है *देवालयान्* कुर्वन् अर्थात् 'मंदिर बनवाते हुए।' यहाँ यह विवेचनीय है कि उक्त दिग्विजय-वर्णन में इस *कुर्वन् कीर्तनानि* के आगे ही आता है *लेखयञ्शासनानि*, अर्थात् 'ताम्रशासन लिखवाते हुए।' यह सब जानते ही हैं कि प्राचीन काल में राजा लोग मंदिर आदि बनवाकर उनके भरण-पोषणार्थ भूमिदान देते थे जिनके लिये ताम्रशासन लिखे जाते थे। ध्यान रहे कि इस प्रसंग में भूमिदान के अतिरिक्त कुछ और भी रहता था और वह था उन मंदिरों की प्रशस्तियाँ शिलापट्टों पर खुदवाना जिनमें मंदिरों के बनानेवालों की वंशावलियाँ दी जाती थीं और

परंच

यह लेख अभी छप ही रहा था कि मुझे एक और ऐसे खंडित *शिलालेख* की *छाप* देखने को मिली जिसमें फिर *प्रशस्ति* के ही अर्थ में *पूर्वा* शब्द का प्रयोग मिलता है। विशेषता यह है कि यहाँ यह गद्यांश में प्रयुक्त हुआ है, जब कि ऊपर के सभी उदाहरण पद्यों में मिलते हैं। पाठ यों है—

लिखिता चेयं पूर्व्वा अपराजितेन राजपुत्र-गोभटप्रसादानुद्धयातेन।

अर्थात् "और इस प्रशस्ति को राजपुत्र गोभट के प्रसादानुजीवी अपराजित ने (शिलापट्ट) पर लिखा है।"

अपराजित नाम में किसी प्रकार का संदेह न हो, इसलिये प्रशस्तिकार ने *पूर्वा* और *अपराजितेन* में संधि नहीं की।

शिलालेख विक्रम संवत् ५४७ का है। यह कहाँ पर है, इसका अभी तक पता नहीं लग पाया।

उनके कारनामों का वर्णन रहता था। इस बात को ध्यान में रखते हुए हम यह आशा कर सकते हैं कि बाणभट्ट ने उक्त वर्णन में *कुर्वन् कीर्तनानि* के समनंतर मूल में अवश्य ही *उल्लेखयन् पूर्वाः* या ऐसा ही कुछ पाठ रक्खा होगा और तदनंतर *लेखयञ्शासनानि* कहा होगा। किंच, यहाँ पर बाण-प्रयुक्त *पूर्वाः* पद को दुरूह अथवा अप्रसिद्ध समझकर बाद में प्रतिलिपि करनेवाले किसी सज्जन ने उसको स्पष्ट करने के लिये टिप्पणी के रूप में साथ ही उसका अर्थ दे दिया *प्रशस्तीः*। आगे के प्रतिलिपि करनेवालों ने अथवा आजकल कादंबरी का प्रकाशन करनेवालों ने यह समझकर कि *लेखयञ्शासनानि* में किसी न किसी प्रकार को लिखावट का भाव तो आ ही गया है, चलो इस *उल्लेखयन्* (या जो भी मूल पाठ में था) *पूर्वाः प्रशस्तीः* को निकाल ही दो, इसे मुख्य पाठ से बहिष्कृत कर दिया तो भी उनका उपकार मानना चाहिए कि उन्होंने, टिप्पणी के रूप में ही सही, इस संदिग्ध *पूर्वाः प्रशस्तीः* को पाठकों के सामने रख तो दिया है।

पाणिनिकालीन भूगोल*

[श्री वासुदेव शरण]

अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये अत्यंत उपयोगी है। पाणिनि ने जिस शब्द-सामग्री का संचय किया उसमें देश, पर्वत, समुद्र, वन, नदी, प्रदेश, जनपद, नगर, ग्राम—इनसे संबंधित अनेक नाम और शब्द थे। इस विस्तृत सामग्री का संग्रह सूत्रकार की मौलिक कृति है। मध्य एशिया से लेकर कलिंग तक एवं सौवीर (आजकल का सिंध) से लेकर पूर्व में असम (आसाम) प्रांत के सूरमस (वर्तमान सूरमा नदी) प्रदेश तक विस्तृत भौगोलिक क्षेत्रों के स्थान-नाम अष्टाध्यायी में पाए जाते हैं। इस प्रकार की सामग्री का संकलन निश्चित उद्देश्य और व्यवस्था के आधार पर किया गया है। जहाँ एक ओर उससे पाणिनि के व्यापक ज्ञान और परिश्रम की सूचना मिलती है वहाँ दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि जिस भाषा का व्याकरण पाणिनि लिख रहे थे उसके प्रचार का क्षेत्र कितना विस्तृत था। इससे सिद्ध होता है कि जीवन के व्यवहार में देश के चारों कोनों का आपस में घना संबंध था। सिंधु नद के समीप शलातुर ग्राम में जन्म लेनेवाले सूत्रकार को सूरमस, कलिंग, अश्मक, कच्छ, सौवीर—पूर्व से पश्चिम तक बिखरे हुए इन प्रदेशों के विषय में अच्छी जानकारी थी। वहाँ का शासन एक-राज अथवा संघ-पद्धति पर था, वहाँ के नागरिक स्त्री-पुरुषों का देश के अनुसार क्या नाम पड़ता था, इस प्रकार की सूचना आवागमन का घनिष्ठ संबंध हुए बिना संभव नहीं। भारतवर्ष के दूरस्थित भाग व्यापार, राज्य और विद्या संबंध के द्वारा महाजनपद युग में (आठवीं शती विक्रम पूर्व से पाँचवीं शती विक्रम पूर्व तक) एक दूसरे के साथ घनिष्ठ संबंध में बँध चुके थे। इसका सुप्रमाणित परिचय महाभारत एवं बौद्ध जातक कथाओं से मिलता है। अष्टाध्यायी भी वही सिद्ध करती है। पाणिनि-सूत्रों का अध्ययन इस समय प्रायः सारे देश में किया जाता है। भौगोलिक नाम भी उसी के साथ आते हैं। पाणिनीय छात्रों के लिये किसी समय

---

*लेखक के 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रंथ का एक अध्याय।

यह सामग्री मूल्यवान् थी जब वे उन नामों का परिचय जानते थे। पुनः उन अर्थों पर ध्यान देने की आवश्यकता है जिससे अष्टाध्यायी की सामग्री द्वारा भारत के भौगोलिक परिचय का फल हमें प्राप्त हो सके।

विचार करना चाहिए कि स्थान-नामों के व्याकरण में गृहीत होने का क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—

व्याकरण का संबंध भाषा से है और भाषा का संबंध स्थान-नामों से। प्रत्येक भाषा में शब्दों के मुख्यतः दो भाग होते हैं, नाम और आख्यात। आख्यात का संबंध धातुओं से है जिनका संग्रह पाणिनि ने धातुपाठ की १६४४ धातुओं के रूप में किया है। नाम अर्थात् संज्ञाएँ तीन प्रकार की होती हैं—(१) वस्तुओं के नाम, (२) मनुष्य-नाम, (३) स्थाननाम। मनुष्य-नाम और स्थान-नाम भी भाषा के अभिन्न अंग ही हैं। मनुष्य जो भाषा बोलते हैं उसी भाषा के शब्दों से अपने बच्चों के नाम रखते हैं और देश के भिन्न भिन्न स्थानों का नामकरण करते हैं। स्थान-नामों का अध्ययन भाषाशास्त्र का अभिन्न अंग है। स्थान-नामों की उत्पत्ति में अनेक राजनैतिक, सामाजिक और वैयक्तिक कारण होते हैं। उदाहरण के लिये पंचाल क्षत्रिय जिस भूप्रदेश में पहिले-पहिल बसे उस प्रदेश का नाम पंचाल पड़ गया। पंचाल जन का पद अर्थात् निवास-स्थान होने के कारण वह प्रदेश पंचाल जनपद कहलाया। पंचाल जन के कारण भूमि का भी वही नाम हुआ। इस प्रकार जन और भूमि को सूचित करनेवाला शब्द मनुष्यों की भाषा का अंग बन गया। व्याकरणशास्त्र को इसमें रुचि है कि 'पंचाल जन का निवास-स्थान', इस नए अर्थ को किस प्रत्यय की शक्ति से स्थानवाची पंचाल शब्द प्रकट करता है। आजकल की भाषा में बिहारी, बंगाली, मद्रासी, गुजराती, सिंधी, मरहठा आदि शब्द भौगोलिक कारणों से बने हैं। 'बिहार का रहनेवाला', इस विशेष अर्थ को बिहारी शब्द का 'ई' प्रत्यय प्रकट करता है। इस छोटे से ई प्रत्यय का उस व्यक्ति के जीवन के लिये विशेष महत्त्व है, क्योंकि इससे उसकी भूमि, भाषा, रहन-सहन, अथवा एक शब्द में कहें तो उसकी नागरिकता पर प्रकाश पड़ता है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा के शब्दों का अर्थ सुलझाने के लिये इस प्रकार के स्थान-नाम संबंधी प्रत्ययों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। पाणिनि ने अपने समय की भाषा के लिये यह काम बड़ी बारीकी के साथ किया। उनसे पूर्व और उनके पश्चात् मनुष्य-नाम और स्थान-नामों के पारस्परिक संबंध का इतना ब्यौरेवार अध्ययन नहीं हुआ। इस दृष्टि से पाणिनीय सामग्री भारतीय इतिहास के लिये अतीव उपयोगी है।

अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री का वर्गीकरण कुछ निश्चित नियमों के अनुसार किया गया है, जो इस प्रकार है—

१—स्थान-नामों के अंत में जुड़नेवाले शब्द। जैसे पुर, नगर, ग्राम आदि।

२—नगर और ग्रामों के अनेक नाम, जो निम्नलिखित चार कारणों से बनते हैं और जिनका निर्देश ४।२।६७ से ४।२।७० तक के सूत्रों में किया गया है।

[अ] 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' (४।२।६७), अर्थात् अमुक वस्तु जिस स्थान में होती है उस वस्तु के नाम से उस स्थान का नाम पड़ जाता है, जैसे 'उदुंबराः सन्ति अस्मिन्देशे औदुम्बरः', उदुंबर के वृक्ष जहाँ हों वह स्थान औदुंबर हुआ।

[आ] 'तेन निर्वृत्तम्' (४।२।६८), अर्थात् उसने यह स्थान बसाया। बसानेवाले के नाम से शहर या गाँव का नाम रखना एक स्वाभाविक और पुरानी प्रथा है। कुशांब की बसाई हुई नगरी कौशांबी कहलाई।

[इ] 'तस्य निवासः' (४।२।६९), अर्थात् रहनेवालों से स्थान का नाम, शिवि जाति के क्षत्रिय जहाँ रहें वह प्रदेश शैव हुआ।

[ई] 'अदूरभवश्च' (४।२।७०), अर्थात् जो स्थान किसी दूसरे स्थान के निकट बसा हुआ होता है, वह भी उसके नाम से पुकारा जाता है; जैसे वरणा वृक्ष के समीप जो ग्राम बसा हो उसका नाम भी वरणा होगा। अथवा विदिशा नदी के समीप बसा हुआ नगर वैदिश हुआ। आम, पीपल, बरगद आदि वृक्षों के समीप बसे हुए हजारों स्थान-नाम इसी नियम के अनुसार बने हैं।

ये चारों अर्थ चातुरर्थिक कहलाते हैं और अगले २१ सूत्रों में (४।२।९१ तक) इन अर्थों की अनुवृत्ति जाती है। तदनुसार बहुत से स्थान-नामों के उदाहरण अष्टाध्यायी में आ गए हैं। अकेले ४।२।८० सूत्र के १७ गणों में लगभग ३०० स्थानों के नाम हैं।

३—स्थान-नामों के आधार पर दो प्रकार के ऐसे शब्द बनते हैं जो मनुष्य-नामों के आगे जुड़ते हैं। जो व्यक्ति जहाँ रहता है, अथवा उसके पुरखा जहाँ रहते थे, उस स्थान के नाम से उस व्यक्ति के नाम की अल्ल या ख्यात पड़ जाती है। जैसे जयपुर से जिसके पुरखों का निकास हो, अथवा जो स्वयं जयपुर का रहनेवाला हो उसे हिंदी में जयपुरिया कहा जाता है, जो विशेषण के रूप में नाम के आगे जुड़ जाता है। संस्कृत में भी यही प्रथा थी। अपने रहने के स्थान को निवास (४।३।८९) और पुरखों के निकास को अभिजन (४।३।९०) कहते थे। उदाहरण के

लिये जो मथुरा का रहनेवाला था, अथवा जिसके पुरखा वहाँ रहे थे, वे दोनों माथुर कहलाए। स्थान-नामों से उत्पन्न अनेक विशेषण उस समय भाषा में प्रचलित थे, जिनकी रूप-सिद्धि के लिये आचार्यों ने नियमों की व्यवस्था की।

४—स्थानवाची संज्ञाओं और वस्तुओं के नामों में और भी अनेक प्रकार के संबंध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ जो वस्तु जहाँ से लाई जाती है, उस स्थान से उस वस्तु का नाम पड़ जाता है, जैसे इस समय जापान से आनेवाला माल जापानी कहा जाता है। इसी प्रकार पाणिनि के समय में भी नाम पड़ते थे। काबुल से साठ मील उत्तर-पूर्व में स्थित कपिशा नगरी से आनेवाली दाख 'कापिशायिनी द्राक्षा' और वहाँ का मद्य 'कापिशायन मधु' कहा जाता था जिनका नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी (४।२।९९) और कौटिलीय अर्थशास्त्र में आया है। रंकु जनपद में उत्पन्न और वहाँ से लाए जानेवाले प्रसिद्ध बैल 'रांकव' या 'रांकवायन' (४।२।१००) कहलाते थे। इस प्रकार के अनेक संबंध जो चातुरर्थिक से भिन्न थे, उन्हें पाणिनि ने 'शेषे' [४।२।९२), इस अधिकार-सूत्र के अंतर्गत एकत्र कर दिया है। यह शैषिक अधिकार ५३ सूत्रों में ४।२।१४५ तक चला गया है और इसमें बहुत अधिक भौगोलिक सामग्री आई है।

एक प्रकार के भौगोलिक नाम वे होते हैं जो किसी जन या कबीले के अधिकार-क्षेत्र में हों और जन के नाम से उनका नाम पड़े। इस प्रकार के भूभाग को 'विषय' कहा जाता था (विषयो देशे ४।२।५२)। काशिका के अनुसार ग्राम-समुदाय की संज्ञा 'विषय' थी। उदाहरण के लिये आप्रीत या आफ़्रीदी नामक कबाइली लोग जिस इलाके में रहते थे उस ग्राम-समुदाय या क्षेत्र को आप्रीतक कहा जाता था। राजन्यादि गण (४।२।५३), भौरिकि आदि गण, और ऐषुकारि आदि (४।२।५४) गणों में लगभग पचास से ऊपर इस प्रकार के शब्दों का संग्रह पाणिनि ने किया है जिनमें से थोड़े ही नाम अब तक पहिचाने जा सके हैं।

पाणिनि ने एकराज जनपद (४।१।१६८-१७६) और संघों के (५।३।११४ से ११७) नामों का भी विवेचन किया है। एक राजा के अधीन जनपद प्रायः पूर्वी भारत में कुरुक्षेत्र से लेकर कलिंग और अश्मक तक फैले हुए थे। इनमें कुरु, कोसल, मगध, कलिंग, प्रत्यग्रथ (पंचाल), अश्मक (गोदावरी के किनारे, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी) मुख्य थे। संघ या गण राज्य विशेष कर वाहीक या पंजाब में फैले हुए थे। पाणिनि ने इन दोनों प्रकार के भूगोलवाची नामों में जुड़नेवाले प्रत्ययों की 'तद्राज' संज्ञा दी है।

कुछ वन, पर्वत और नदियों के नामों में स्वर को दीर्घ किया जाता था। इनकी गिनती ६।३।११७–१२० सूत्रों में की गई है। वनों के कुछ नामों में नकार को णकार होता था। उनका परिगणन ८।४।४-५ सूत्रों में किया गया है। कात्यायन और पतंजलि ने इस सामग्री में और वृद्धि की; विशेषतः महाभाष्य में भूगोल संबंधी जानकारी को बहुत आगे बढ़ाया गया है। राजन्यादि गण के वसाति, देवयान, बैल्ववन अंबरीषपुत्र और आत्मकामेय इन पाँच नामों का उल्लेख महाभाष्य (४।२।५२) में ही किया गया है। पाणिनि की इस सामग्री का विशेष परिचय यहाँ दिया जाता है।

देश

भौगोलिक सीमा विस्तार

सूत्रों में पठित निश्चित स्थान-नामों की सहायता से पाणिनि-कालीन भौगोलिक दिग्विस्तार का परिचय मिलता है। उत्तर-पश्चिम में कापिशी (४।२। ६६) का उल्लेख है, यह नगरी प्राचीन काल में अति प्रसिद्ध राजधानी थी। काबुल से लगभग ५० मील उत्तर इसके प्राचीन अवशेष मिले हैं। यहाँ से प्राप्त एक शिलालेख में इसे कपिशा कहा गया है। आजकल इसका नाम बेग्राम है। कापिशी से भी और उत्तर में कंबोज (४।१।१७५) जनपद था जहाँ इस समय मध्य एशिया का पामीर पठार है। कंबोज के पूर्व में तारिम नदी के समीप 'कूचा' प्रदेश था, जो संभवतः वही है जिसे पाणिनि ने 'कूच-वार' (४।३।६४) कहा है।

तक्षशिला के दक्षिण-पूर्व में मद्र जनपद (४।२।१३१) था जिसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी। मद्र के दक्षिण में उशीनर (४।२।११८) और शिवि जनपद थे। वर्तमान पंजाब का उत्तर-पूर्वी भाग जो चंबा से काँगड़ा तक फैला हुआ है, प्राचीन त्रिगर्त देश था। सतलुज, व्यास और रावी इन तीन नदियों की घाटियों के कारण इसका नाम त्रिगर्त (५।३।११६) पड़ा। दक्षिण-पूर्वी पंजाब में थानेश्वर-कैथल-करनाल-पानीपत का भूभाग भरत जनपद था। इसी का दूसरा नाम प्राच्य भरत (४।२।११३) भी था, क्योंकि यहीं से देश के उदीच्य और प्राच्य इन दो खंडों की सीमाएँ बँट जाती थीं। दिल्ली-मेरठ का प्रदेश कुरु जनपद (४।१।१७२) कहलाता था। उसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। अष्टाध्यायी में उसका रूप हास्तिनपुर (४।२।१०१) है। गंगा और रामगंगा के बीच में प्रत्यग्रथ नामक जनपद (४।१।१७१) था, जिसे पंचाल भी कहते थे। मध्यदेश में कोसल

(४।१।१७१) और काशि (४।२।११६) जनपदों का नामोल्लेख किया गया है। इससे पूर्व में मगध (४।१।१७०) जनपद था। पूर्वी समुद्र तट पर कलिंग देश था जहाँ इस समय महानदी बहती है। सूत्र ४।१।१७० में पाणिनि ने सूरमस जनपद का नामोल्लेख किया है। इसकी पहिचान असम प्रांत की सूरमा नदी की घाटी और गिरि-प्रदेश से की जा सकती है। इस प्रकार कंबोज (पामीर) से लेकर कामरूप-असम तक के जनपदों का ताँता अष्टाध्यायी में पाया जाता है। पश्चिम में समुद्र-तटवर्ती कच्छ जनपद (४।२।१३३) और दक्षिण में गोदावरी-तटवर्ती अश्मक जनपद (४।१।१७३) का नामोल्लेख भी है; इसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी जो गोदावरी के बाएँ किनारे बंबई और हैदराबाद की सीमा पर वर्तमान पैठण है। कलिंग और अश्मक एक ही अक्षांश रेखा पर थे।

उत्तर के पहाड़ों में हिमालय का नाम हिमवत् (४।४।११२) आया है। पाणिनि को भारतीय समुद्रों का भी परिचय था। किनारे के पास के द्वीपों को पाणिनि ने अनुसमुद्र द्वीप (४।३।१०) कहा है। जो वस्तुएँ इन द्वीपों में होती थीं उनके लिये द्वैप्य विशेषण था। बीच समुद्र में स्थित द्वीपों में उत्पन्न वस्तुएँ द्वैप कहलाती थीं। अयनांशों के बीच के देशों के लिये पाणिनि ने अंतरयन (८।४।२५) शब्द का प्रयोग किया है। कर्क की अयनांश रेखा कच्छ-भुज से आनर्त-अवंती जनपदों को पार करती हुई सूरमस तक चली गई है। इसके दक्षिण में भारतवर्ष का भूभाग 'अंतरयन' कहलाता था।

उदीच्य और प्राच्य

पाणिनि ने देश के उदीच्य और प्राच्य इन दो भागों का उल्लेख किया है। इन दोनों के बीच में भरत जनपद था जहाँ इस समय कुरुक्षेत्र है। सूत्र २।४।६६ के प्राच्य-भरत पद पर पतंजलि ने लिखा है कि वस्तुतः प्राच्य देश भरत से पूरब में प्रारंभ होता था (अन्यत्र प्राग्ग्रहणे भरतग्रहणं न भवति)। पाणिनि ने 'शरावती' नदी का नामोल्लेख (शरादीनां च ६।३।१२०) किया है। नागेश ने एक प्राचीन श्लोक[1] का प्रमाण देते हुए लिखा है कि शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य देशों के बीच की सीमा थी। अमरकोष से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में भी शरावती प्राच्य और उदीच्य के बीच की विभाजक रेखा मानी जाती थी। शरावती

१—प्रागुदंचौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥

के दक्षिण-पूर्व का देश प्राच्य और पश्चिमोत्तर का उदीच्य कहलाता था।[२] शरावती नदी की निश्चित पहिचान नहीं हुई। संभवतः अंबाला जिले में बहनेवाली घग्घर नदी शरावती कही जाती थी और वही प्राची और उदीची की सीमाओं को अलग करती थी।

पाणिनि की दृष्टि में प्राच्य और उदीच्य दोनों प्रदेशों में बोली जानेवाली भाषा शिष्टसम्मत थी। उसके शब्द व्याकरण का विषय थे। शब्दों के शुद्ध रूप जानने के लिये जिस लोक का प्रमाण दिया जाता था, वह यही था। गंधार और वाहीक दोनों मिलकर उदीच्य कहलाते थे। सिंधु से शतद्रु तक का प्रदेश वाहीक था जिसके अंतर्गत मद्र, उशीनर और त्रिगर्त ये तीन मुख्य भाग थे। तक्षशिला से काबुल तक का प्रदेश गंधार कहलाता था। पाणिनि की समकालीन संस्कृत भाषा का क्षेत्र गंधार से प्राच्य तक फैला हुआ था। पाणिनि लगभग पाँचवीं शताब्दी विक्रम पूर्व में हुए। उनके बाद लगभग दो शती पीछे यवनों का और फिर शकों का आगमन इस देश में हुआ। शक-यवनों के कारण बाल्हीक और गंधार के प्रदेश भारतवर्ष की राजनैतिक सीमा से अलग जा पड़े थे और उनके साथ के सांस्कृतिक संबंध भी ढीले पड़ने लगे थे। अतएव पतंजलि ने महाभाष्य में शक-यवनों के प्रदेश को आर्यावर्त की सीमा से बाहर कहा और भाषा-भेद के कारण उन्हें शिष्ट संस्कृत के क्षेत्र से अलग समझा। पतंजलि की दृष्टि में आर्यावर्त के शिष्ट विद्वानों की भाषा प्रामाणिक संस्कृत थी और तत्कालीन संकुचित आर्यावर्त हिमालय के दक्षिण, पारियात्र पर्वत के उत्तर, आदर्श के पूर्व और कालक वन के पश्चिम अवस्थित था। आदर्श प्रायः अदर्शन या सरस्वती के बालू में खो जाने (विनशन) का प्रदेश समझा जाता है। किंतु काशिका में उसे एक जनपद का नाम कहा गया है (४।२।१२४) और नागेश ने उसे कुरुक्षेत्र की एक पहाड़ी कहा है। कालक वन पाली साहित्य के अनुसार साकेत का एक भाग था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनैतिक कारणों से पतंजलि के समय में आर्यावर्त की सीमाएँ काफी सिकुड़ गई थीं। पतंजलि ने शक-यवन, किष्किंध-गब्दिक और शौर्य-क्रौंच को आर्यावर्त की सीमा के बाहर कहा है। किष्किंधा गोरखपुर जिले में था, जिसे पाली साहित्य में

२—लोकोऽयं भारतं वर्षं शरावत्यास्तु योऽवधेः।
देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्यः उदीच्यः पश्चिमोत्तरः॥
(अमरकोष २।१।६-७)

कुसुंदो[१] कहा है। चंबा रियासत के गद्दी प्रदेश का प्राचीन नाम गब्दिक था और वह पतंजलि के समय में आर्यावर्त से बाहर समझा जाता था। किंतु पाणिनि के समय में गंधार से मगध तक भाषा का अखंड क्षेत्र फैला हुआ था उस समय उसी के प्राच्य और उदीच्य दो स्वाभाविक भाग माने जाते थे।

पर्वत, वन और नदियाँ

पर्वत

अष्टाध्यायी में पहाड़ी प्रदेशों से संबंधित कुछ विशेष शब्द आए हैं; जैसे, हिमानी (४।१।४९, बर्फ का भारी ढेर, ग्लेशियर); हिमश्रथ (६।४।२९, बरफ का पिघलना या हिमगल); उपत्यका (५।२।३४, पर्वत के नीचे की भूमि, नदी की द्रोणी या दून, घाटी); अधित्यका (५।२।३४, पर्वत के ऊपर की ऊँची भूमि या पठार)। हिमवत् का नाम ४।४।११२ सूत्र में है (विशेषण हैमवती)।

हिमालय के भूगोल से ही संबंधित दो महत्त्वपूर्ण नाम अंतर्गिरि और उपगिरि थे। आचार्य सेनक के मत में इनका रूप अंतर्गिरम्, उपगिरम् (५।४।११२) भी चालू था। हिमालय की पच्छिम से पूर्व की ओर फैली हुई तीन शृंखलाएँ हैं। मैदानों की तरफ से सबसे पहले तराई की भूमि आती है। इस मैदान को नैपाल में तराई, नैनीताल जिले में भाभर (वहाँ उत्पन्न होनेवाली घास के नाम से) और देहरादून में दून (संस्कृत द्रोणी) कहते हैं। इसकी ऊँचाई लगभग १००० फुट से २००० फुट तक है। हरद्वार से देहरादून की चढ़ाई और छोटे टीले इसी के अंग हैं। हिमालय की इस उपत्यका या बहिःशृंखला का नाम उपगिरि था। देहरादून से केवल सात मील पर स्थित राजपुर से एकदम चढ़ाई आरंभ हो जाती है और सात मील के भीतर हम मंसूरी की ६५०० फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाते हैं। हिमालय की उस बीच की शृंखला में मंसूरी, नैनीताल, शिमला, धर्मशाला, श्रीनगर आदि स्थानों की चोटियाँ हैं। इसे पाली साहित्य में चुल्ल हिमवंत (अंग्रेजी 'लेसर हिमालय') कहा गया है। इसका प्राचीन नाम बहिर्गिरि था। इससे ऊपर उठकर हिमालय की तीसरी शृंखला है जिसमें अठारह बीस हजार से लेकर तीस हजार फुट तक की आकाश छूनेवाली चोटियाँ हैं। कांचनजंघा,

---

१—अवध तिरहुत रेलवे के नोनवार स्टेशन से डेढ़ मील पर गोरखपुर जिले में खुखुंदो नामक स्थान है।

गौरीशंकर, धवलगिरि, नंदादेवी, नंगापर्वत आदि हिमालय के उत्तुंग गिरिशृंग इस शृंखला में है; इसे पाली साहित्य के भूगोल में महाहिमवंत (ग्रेट सेंट्रल हिमालय) कहा गया है। इसी का प्राचीन संस्कृत नाम अंतर्गिरि था। महाभारत से ज्ञात होता है कि हिमालय की इन तीन शृंखलाओं के ये भौगोलिक भेद हमारे पूर्वजों के दृष्टिपथ में आ चुके थे और उन्होंने इनका नामकरण भी कर लिया था। अर्जुन की दिग्विजय-यात्रा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसने अंतर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि को जीता था (सभा पर्व २७।३)। पाणिनि ने बीच की शृंखला बहिर्गिरि का नाम न देकर केवल अंतर्गिरि और उपगिरि का ही नाम दिया है। ज्ञात होता है कि तराई की उपत्यका के लिये उपगिरि नाम था, और शेष हिमालय जिसमें छोटी और ऊँची दोनों चोटियाँ सम्मिलित थीं, अंतर्गिरि (हिमालय का भीतरी प्रदेश) कहलाता था। इस प्रकार अंतर्गिरि का ही अवांतरभेद बहिर्गिरि समझा जाता था। अथवा यह भी संभव है कि आचार्य सेनक और पाणिनि दोनों के मत में बहिर्गिरि नाम का लोक में एक ही रूप था, अतएव व्याकरण में उसके अलग उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी गई।

अष्टाध्यायी में अन्य पर्वतों के नाम

(१) त्रिककुत् (त्रिककुत् पर्वते ५।४।१४७)—तीन चोटियोंवाले इस पहाड़ का नाम अथर्ववेद में आता है जहाँ एक प्रकार का सुरमा (त्रैककुद अंजन) उत्पन्न होता था। यह भी हिमालय की किसी चोटी का ही नाम था। कीथ ने इसकी पहिचान त्रिकोट से की है (वैदिक इंडेक्स १।३२६) जो उत्तरी पंजाब और कश्मीर के बीच की कोई चोटी थी। किंतु अधिक संभावना है कि यह नाम सुलेमान पर्वत का था जो अंजन या सुरमे का उत्पत्ति-स्थान था और आज तक है। सुलेमान के समानांतर शीनगर की पर्वत-शृंखला है जो झोब (यह्वती) नदी के पूर्व है; एवं दोनों के पीछे टोबा और काकड़ की शृंखलाएँ है। पर्वतों की यह तिहरी दीवार ठीक ही त्रिककुद् कहलाती थी (जयचंद्र विद्यालंकार, भारतभूमि पृ० १२६)। यहीं से त्रैककुद् अंजन प्राप्त होता था। महाभारत के अनुसार वाहीक (पंजाब) की गोरी स्त्रियाँ मनसिल के समान चमकीले अपांगयुक्त नेत्रों में त्रिककुद् का अंजन डालती थीं (कर्ण पर्व ४४।१८)। आज भी सुलेमानी सुरमा एक ओर पंजाब में दूसरी ओर सिंध में दूर-दूर तक जाता है। सिंध में यही सौवीरांजन भी कहलाता था।

(२) विदूर (विदूराञ्ञ्यः, ४।३।८४)—यह वैदूर्य मणि का उत्पत्ति-स्थान था। मार्कंडेय पुराण की व्याख्या में पारजिटर ने वैदूर्य की पहिचान सातपुड़ा से की है। पतंजलि के मत में वैदूर्य मणि की खानें बालवाय पर्वत में थीं। वहाँ से लाकर विदूर के बेगड़ी (संस्कृत वैकटिक, रत्नतराश) उसे घाट-पहलों पर काटते और बींधते थे, इससे उसका नाम वैदूर्य पड़ा। संभव है कि दक्षिण का बीदर विदूर हो।

(३) 'वनगिरयोः संज्ञायां कोटर किंशुलकादीनाम्' (६।३।११७) सूत्र के किंशुलकादि गण में छः पहाड़ों के नाम दिए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) किंशुलकागिरि (२) शाल्वकागिरि (३) अंजनागिरि (४) भंजनागिरि, (५) लोहितागिरि और (६) कुक्कुटागिरि।

ये नाम अत्यंत अपरिचित हैं, पर जान पड़ता है कि यह पुरानी भौगोलिक सामग्री किसी समय एक क्रम से सूचीबद्ध की गई थी, जिसे पाणिनि ने ले लिया। भारत के उत्तर-पच्छिमी छोर पर अफगानिस्तान से बलूचिस्तान तक उत्तर-दक्षिण दौड़ती हुई जो पहाड़ों की दीवार है उसी की बड़ी-बड़ी चोटियों के ये नाम जान पड़ते हैं।

शाल्वकागिरि भाषाशास्त्र की दृष्टि से स्पष्ट ही सिंध-बलोचिस्तान की सीमा पर उत्तर-दक्षिण गया हुआ हाला पहाड़ है। उसके पच्छिम में बलोचिस्तान की मकरान पर्वत-शृंखला संभवतः किंशुलकागिरि थी, जिसका नाम अभी तक हिंगुलाज देश और हिंगुला नदी के नामों के रूप में बचा रह गया है। हिंगुला किंशुल का प्राकृत रूप है। इस देश का प्राचीन नाम पारद था। यूनानियों ने इसे पारदीनी (Pardene) लिखा है; जो व्याकरण-साहित्य के पारदायन और पारदायनी से संबंधित है (४।२।६६)। पारद के अर्थ में हिंगुल शब्द का प्रयोग मध्यकाल में पाया जाता है। संभवतः लाल हिंगुल का उत्पत्ति-स्थान होने के कारण यह स्थान किंशुलक कहलाया। किंशुक और किंशुलक एक ही शब्द ज्ञात होते हैं। हिंगुला अभी तक लाल देवी मानी जाती है। वस्तुतः हिंगुलाज में शकों की नना देवी का प्रसिद्ध मंदिर था, जिसकी मान्यता ('जियारत') मुसलमान भी 'नानी' के नाम से करते हैं।

इससे आगे दूसरी बड़ी शृंखला सुलेमान पर्वत की है। टोबा काकड़ और शीनगर के साथ उसकी तीन बाहियों का नाम, जैसा ऊपर कहा गया है, त्रिक-

कुत् पर्वत था जहाँ का प्रसिद्ध अंजन वैदिक काल से ही सारे पंजाब में जाता था। यही पाणिनि की इस सूची का अंजनागिरि है।

इसके ऊपर अफगानिस्तान के नकशे में ऊँचे पहाड़ों की दो गाँठें हैं—एक मध्य अफगानिस्तान में काबुल के दक्षिण-पश्चिम कोहबाबा का पहाड़ और दूसरा उत्तर-पूरब के रुख उससे आगे पड़ा हुआ हिंदुकुश का पहाड़। इनमें से हिंदुकुश का पुराना नाम लोहितागिरि था। अर्जुन की दिग्विजय के मार्ग में काश्मीर के बाद लोहित को जीतने का उल्लेख है (सभा पर्व २७।१७) है। लोहित का ही दूसरा नाम रोहितगिरि था जिसका उल्लेख काशिका (४।३।६१) ने रोहितगिरि की पर्वताश्रयी आयुधजीवी जातियों के संबंध में किया है। वहाँ के निवासी रोहित-गिरीय कहलाते थे। महाभारत में भी लोहित के दस मंडलों का वर्णन आया है, जो कपिश-गंधार प्रदेश के लड़ाकू कबीले ही ज्ञात होते हैं (व्यजयल्लोहितं चैव मंडलै-र्दशभिः सह, सभापर्व २७।१७)। इस प्रकार लोहितागिरि की पहिचान हिंदुकुश से ही की जा सकती है। इस अत्यंत प्रसिद्ध पहाड़ का अन्य प्राचीन नाम पाया भी नहीं जाता। लोहितागिरि या रोहितगिरि के साथ उसकी पहिचान करने से अफगा-निस्तान का मध्यकालीन नाम 'रोह' भी चरितार्थ हो जाता है। इसी से अफगानों के लिये रुहेला नाम प्रचलित हुआ। रुहेलखंड शब्द में अब तक वह बचा है।

सुलेमान और हिंदूकुश के बीच में बड़ा पहाड़ अफगानिस्तान का केंद्रीय जल-विभाजक कोहेबाबा है। यहीं से अफगानिस्तान के पूरब, पच्छिम, उत्तर और दक्षिण की जलधाराएँ बिखर कर चारों दिशाओं में बह जाती हैं। संभवतः यही प्राचीन अंजनागिरि था।

कुक्कुटागिरि भी यदि इसी प्रदेश की कोई पर्वत-शृंखला हो, जैसा कि संभव प्रतीत होता है, तो उसकी पहिचान कोहबाबा या अंजनागिरि के पच्छिम की ओर बढ़ी हुई अपेक्षाकृत नीची उन बाहियों से की जा सकती है जो हेरात और हरिरूद (सरयू) नदी के उत्तर समानांतर चली गई हैं। प्राचीन ईरानी उनकी निचाई के कारण उन्हें उपरिशएन (संस्कृत उपरिश्येन, श्येन या बाज के बैठने का अड्डा) कहते थे। उसी का अपभ्रंश नाम यूनानियों ने परोपमिसस लिखा है। यह बाल्हीक (बलख) के दक्षिण की पर्वतमाला थी। इस उपरिश्येन का ही भारतीय नाम कुक्कुटागिरि जान पड़ता है, जो पाणिनि की इस सूची में अंतिम कड़ी है।

'आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते' (४।३।९१) सूत्र में पाणिनि ने विशेष रूप से पहाड़ी इलाके में रहनेवाले आयुधजीवियों या लड़ाकू कबीलों का उल्लेख किया है। महाभारत से ज्ञात होता है कि ये लोग गंधार के रहनेवाले थे जो दुर्योधन की ओर से लड़ने आए थे।[४] मार्कंडेय पुराण में नगरहार (आधुनिक जलालाबाद) के निवासी जनों को पर्वताश्रयी कहा गया है। अवश्य ही इस नाम से गंधार की लड़ाकू जातियाँ अभिप्रेत थीं। पाणिनि के पर्वत-प्रदेश का ठीक अनुवाद आधुनिक कोहिस्तान है, जो सिंधु-स्वात और पंजकोरा (प्राचीन गौरी नदी) की ऊपरली घाटियों का नाम है। यहाँ पर लड़ाकू जातियों के ठट्ट भरे हैं। संभवतः प्राचीन समय में यह इलाका सिंधु से हिंदुकुश तक फैला हुआ था। हिंदुकुश का ही पुराना नाम रोहितगिरि या लोहितागिरि था। मोटे तौर पर इस प्रदेश के आज भी दो हिस्से हैं, अर्थात् काफिरिस्तान-कोहिस्तान—वे ही प्राचीन समय में थे। कुनड़ (उसी का नाम काश्कर या चित्राल नदी है) इन दोनों के बीच की सीमा है। कुनड़ के पच्छिम में पंजशीर नदी तक फैला हुआ पच्छिमी भाग (इस समय का काफिरिस्तान) पाणिनि के समय में कापिशी (४।२।९९) कहलाता था। कुनड़ का पूर्वी भाग (इस समय का कोहिस्तान) पाणिनि के समय में पच्छिमी गंधार कहलाता था जिसकी राजधानी पुष्कलावती (आधुनिक चारसद्दा) स्वात और काबुल (सुवास्तु-कुभा) के संगम पर थी। इसमें भी खास स्वात नदी की घाटी बौद्ध साहित्य में उड्डियान नाम से प्रसिद्ध थी जिसका संस्कृत नाम पतंजलि के महाभाष्य में औदी-ऽयनी (कापिश्याः ष्फक्, ४।२।९९ पर वार्तिक बल्हि उर्दि पर्दिभ्यश्च) मिलता है। यहीं पर वे कंबल बनते थे जिन्हें पाणिनि ने पांडु कंबल (४।२।११) कहा है और जो सैनिक उपयोग के लिये मध्यदेश तक आते थे। बल्ख-काफिरिस्तान-कोहिस्तान, इन तीनों का प्राचीन सूत्र बाल्हि-कापिशी-उर्दि था जिनसे बाल्हायनी, कापिशायनी और औदीयनी, ये तीन विशेषण बनते थे। अफगानिस्तान की इस भौगोलिक

४—तथा प्रतीच्याः पार्वतीयाश्च सर्वे। (उद्योग० ३०।२४)
गान्धारराजः शकुनिः पार्वतीयः। (उद्योग० ३०।२७)

इन पहाड़ी कबीलों का नेता गंधार देश का राजा शकुनि था। और भी देखिए, द्रोण पर्व १२१।१३,४२

यूनानी लेखक अर्रियन के अनुसार 'पर्वताश्रयी' सैनिक दारा तृतीय की सेना में सम्मिलित होकर सिकंदर से लड़े थे।

स्थिति में काफिरिस्तान-कोहिस्तान का इलाका प्राचीन नामों के अनुसार कपिश गंधार था। इसी का इकट्ठा नाम पर्वत-प्रदेश ज्ञात होता है जो आयुधजीवी या लड़ाकू कबीलों का इलाका था। आज भी बाजौर, स्वात और बुनेर का प्रदेश (सिंधु, स्वात और कुनड़ नदी की दूनें) यागिस्तान कहलाती हैं जिसका अर्थ है अराजक देश (जयचंद्र विद्यालंकार, भारत भूमि और उसके निवासी, पृष्ठ २२६)। यह पाणिनि के व्रात (५।३।११३) से मिलता है। इस प्रकार काफिरिस्तान-कोहिस्तान के पहाड़ी प्रदेश में जिस तरह के आयुधजीवी थे वे पाणिनि के शब्दों में राजनीतिक दृष्टि से व्रात संज्ञक थे (५।३।११३)। वे लोग उत्सेध-जीवी (लूट-मार करनेवाले) थे। वहाँ की पर्वतीय जातियाँ आयुधजीवी होते हुए भी उस प्रकार से उन्नत संघ शासन में संगठित नहीं हुई थीं जैसे कि त्रिगर्त देश (काँगड़ा-जालंधर प्रदेश) की पर्वताश्रयी और आयुधजीवी जातियाँ (दामन्यादि त्रिगर्तषष्ठाच्छः, ५।३।११६) हो गई थीं।

वन

पुरगावण, मिश्रकावण, सिध्रकावण, शारिकावण, कोटरावण, अग्रेवण, इन छः वनों के नाम सूत्र ८।४।४ में पढ़े गए हैं। इनमें से पहले पाँच वनों के नाम पाणिनि ने ६।३।११७ सूत्र के कोटरादिगण में दोहराए हैं। स्पष्ट ज्ञात होता है कि सूत्र ८।४।४ पूर्वाचार्य-व्याकरण से पाणिनि ने अविकल ग्रहण कर लिया था, किंतु सूत्र ६।३।१७ में कोटरादिगण की कल्पना उनकी निजी है। गणरत्नमहोदधि (पृष्ठ ७६) के अनुसार पुरगा पाटलिपुत्र नगर की एक यक्षिणी थी। इससे अनुमान होता है कि पुरगावण पाटलिपुत्र के समीप था जो उस यक्षिणी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मिश्रकावण नैमिषारण्य के पास वर्तमान मिसरिख ज्ञात होता है जो अब नीमखार-मिसरिख (सीतापुर से १३ मील दक्षिण) कहलाता है। विधुर पंडित जातक के अनुसार स्वर्ग में नंदनवन के समान पृथ्वी पर मिस्सक या मिश्रकावन प्रसिद्ध था (मिस्सकं नंदनं वनम्, जातक ६।२७८)। सिध्रकावण सिध्रका नाम की लकड़ियों का वन था। सामविधान ब्राह्मण में सैध्रिकमयी समिधाओं को घी में डुबाकर सहस्र आहुतियों से हवन करने का उल्लेख है।[५] अग्रेवण संभवतः प्राचीन अग्र

५—सैध्रिकमयीनां समिधां घृताक्तानां सहस्रं जुहुयात् (सामविधान ३।६।६)। सैध्रकं सारवृक्षविशेषः (सायण)।

जनपद (जिसकी राजधानी अग्रोदक, आधुनिक अग्रोहा, थी) में स्थित वन का नाम था। कोटरावण लखीमपुर जिले का कोई जंगल था जहाँ आज भी कोटरा नामक रियासत है। यहाँ अधिकतर सालू और शीशम के वृक्ष हैं। शारिकावण अर्वाचीन सारन (बिहार) का पुराना नाम जान पड़ता है।

अगले सूत्र (८।४।५)में पाणिनि ने सात ऐसे नाम गिनाए हैं जो विशेष वनों की संज्ञाएँ थे और साधारण शब्दों के रूप में भी भाषा में प्रयुक्त होते थे, यथा— शरवण, इक्षुवण, प्लक्षवण, आम्रवण, कार्ष्यवण, खदिरवण और पीयूक्षावण। व्याकरण की दृष्टि से बात इतनी ही थी कि इन नामों में वन के नकार को णकार होता था, जिसके कारण पाणिनि को इनका लेखा-जोखा करना पड़ा। शरवण नाम का एक संनिवेश श्रावस्ती नगरी से सटा हुआ था, जहाँ आजीवक आचार्य गोशाल मंखलि पुत्त का जन्म हुआ था (उवासग दसाओ)।[६] मंखलि का नाम पाणिनि को ज्ञात ही था (६।१।१५४)।

इक्षुवण फरुखाबाद जिले में बहनेवाली इक्षुमती नदी (जिसे आजकल 'ईखन' कहते हैं) के तट पर होना चाहिए।[७] इक्षुमती गंगा में मिलती है।

आम्रवण राजगृह के समीप एक वन का नाम था। कहा जाता है कि इसे जीवक ने बुद्ध को दान में दिया था। पाली साहित्य में हजार-हजार वृक्षों वाले आम के वनों का उल्लेख है। ऐसे घने और अँधेरिया बागों को सहस्संब वन कहते थे। प्राचीन कंपिल्लपुर (आधुनिक कम्पिल, जिला फरुखाबाद) में इस तरह का एक सहस्संब वन था। इससे भी बड़े आम के बागों के लिये हिंदी में 'लखपेड़ा' शब्द अभी तक प्रसिद्ध है। अवश्य ही ऐसे बड़े बागों के नाम लोक में प्रसिद्ध होजाते थे।

खदिरवण साधारणतया कोई भी कत्थे का जंगल हुआ। जैसे 'खदिरवनिय रुक्ख कोट्ठ सकुनो', अर्थात् खदिरवन में पेड़ के खखोडल का पंछी (पाली साहित्य)। जातकों में हिमवंत प्रदेश में खदिरवन का उल्लेख है (खदिरवने हिमवंत प्रदेशे, जातक २।१६२, १६३)। आज भी तराई के पहाड़ी इलाके में कत्थे के भारी जंगल हैं। संज्ञावाची खदिरवण आरण्यक मुनियों के प्रधान आचार्य रेवत का जन्मस्थान था, जिसके कारण वे रेवत खदिरवनीय कहलाते थे (अंगुत्तर निकाय, १।१४।१)।[८]

६—और भी देखिए श्री विमलाचरण लाहा कृत, 'श्रावस्ती इन इंडियन लिटरेचर', पृष्ठ १०, ११

७—यूनानी लेखकों ने इसे आक्सीमगी (Oxymagis) कहा है।

८—बाद के बौद्ध धर्म में खदिरवन की एक देवी खदिरवनी तारा कहलाती है (साधन माला)। ज्ञात होता है खदिरवन नाम मध्यकाल तक प्रसिद्ध रहा।

पाणिनि ने औषधियों तथा वनस्पतियों के जंगल (८।४।६) और पशुओं के चराई के जंगलों (आशितंगवीन अरण्य, ५।४।७) का भी उल्लेख किया है ।

नदी

अष्टाध्यायी में निम्नलिखित नदियों के नाम सूत्रों में आए हैं—

सुवास्तु (४।२।७७), सिंधु (४।६।६३), विपाश् (४।२।७४), उद्ध्य (३।१।११५), भिद्य (३।१।११५), देविका (७।३।१), सरयू (६।४।१७४), अजिरवती (६।३।११६), शरावती (६।३।१२०), चर्मण्वती (८।२।१२)। इनकी पहचान इस प्रकार है ।

सुवास्तु—सुवास्तु वैदिक काल की नदी थी, यह आजकल की स्वात है । इसकी पच्छिमी शाखा गौरी नदी (पंजकोरा) है । इन दोनों के बीच में उड्डियान था जो गंधार देश का एक भाग माना जाता था । यहीं स्वात की घाटी में प्राचीन काल से आज तक एक विशेष प्रकार के कंबल बुने जाते आए हैं । पाणिनि ने पांडु कंबल (४।२।११) नाम से उनका उल्लेख किया है । सुवास्तु और गौरी की दूनों में एक वीर जाति के लोग बसते थे जिन्हें यूनानियों ने अस्सकेनोई (Assakenoi) और पाणिनि ने अश्वकायन (४।१।६६, नडादिगण) कहा है । इनकी राजधानी मस्सग थी जो व्याकरण साहित्य की मशकावती है । स्वात का ही निचला भाग मशकावती नदी कहलाता था जिसके तट पर मशकावती नगरी थी । भाष्य ४।२।७१ में गशकावती नदी का उल्लेख है । सुवास्तु नदी के दक्षिण का प्रदेश जहाँ वह कुभा में मिलती है, किसी समय पुष्कल जनपद कहलाता था । इसकी राजधानी पुष्कलावती थी जिसे यूनानी भूगोल-लेखकों ने पिउकेलाउती कहा है । मशकावती की भाँति पुष्कलावती भी व्याकरण में नदी का नाम प्रसिद्ध था । काशिका में तीन सूत्रों के उदाहरणों में (४।२।८५ ; ६।१।२१६ ; ६।३।११६) पुष्कलावती का नाम प्राचीन नदी-सूची में आया है । स्वात नदी के ही निचले टुकड़े का नाम पुष्कलावती था । यूनानी लेखकों के अनुसार इस प्रदेश में अस्तेनेनोई नामक लड़ाकू कबीला रहता था । पाणिनि के एक सूत्र में उसी का नाम हास्तिनानयन (६।४।१७४) मिलता है । वस्तुतः सुवास्तु-गौरी-कुभा-सिंधु के बीच का प्रदेश पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर का पिछवाड़ा था । अपने घर के आँगन की तिल-तिल भूमि से उनका परिचित होना स्वाभाविक था ।

सिंधु—प्राचीन सिंधु नद आजकल की सिंध है। सिंधु के नाम से उसके पूरबी किनारे की तरफ पंजाब में फैला हुआ प्राचीन सिंधु जनपद (सिंधु-सागर दुआब) था, जिसका पाणिनि ने अपने सूत्र में उल्लेख किया है (सिंधुतक्षशिला-दिभ्योऽणञौ ४।३।९३)। इस समय के सिंध प्रांत का पुराना नाम सौवीर था। उसका भी उल्लेख पाणिनि ने सौवीर के गोत्रों का परिचय देते हुए (४।१।१४८) किया है। सिंधु नदी कैलास के पश्चिमी तटांत से निकलकर काश्मीर को दो भागों में बाँटती हुई गिलगिट-चिलास (प्राचीन दरद् देश) में घुसकर दक्षिणवाहिनी होती हुई दरद् के चरणों से पहिली बार मैदान में उतरती है। इस भौगोलिक सचाई को जान कर प्राचीन भारतवासी सिंधु को 'दारदी सिंधुः' कहते थे। 'प्रभवति' (४।३।८३) सूत्र पर काशिका में 'दारदी सिंधुः' उदाहरण आया है। दरद् से नीचे उतरकर सिंधु पूर्वी और पच्छिमी गंधार की सीमा बनाती थी। पूर्वी गंधार की राजधानी तक्षशिला थी (४।३।९७)। यहाँ सिंधु के पच्छिम में उर्दि (उड्डियान) और पूरब में उरशा जनपद (वर्तमान हजारा) था। यहीं पर पच्छिम से आनेवाली कुभा (काबुल) नदी मिलती है। कुभा और सिंधु के कोण में पाणिनि का जन्मस्थान शलातुर था। इस प्रदेश से पाणिनि का बहुत ही सूक्ष्म परिचय होना स्वाभाविक है। शलातुर ओहिंद से केवल चार मील है। ओहिंद प्राचीन उद्भांडपुर था, जहाँ सिंधु नदी को पार करने के लिये नौक्रम या घाट लगता था। यहीं पर उत्तरपथ (५।१।७७) नाम का राजमार्ग उत्तरी भारत और बाल्हीक-कपिशा को मिलाता हुआ सिंधु नद पार करता था। पूर्वी गंधार की राजधानी तक्षशिला उद्भांड से लगभग साठ मील पूरब थी और लगभग इतनी ही दूर पश्चिम में पश्चिमी गंधार की राजधानी पुष्कलावती (चारसद्दा) थी। सिंधु के उस पार के इलाके का पुराना नाम सभापर्व में 'पारे सिंधु' (सभापर्व ५१।११) दिया है जो 'पारेमध्ये षष्ठ्यावा' (२।१।१८) सूत्र से सिद्ध होता है (पारे सिंधोः पारेसिंधु)। यह प्रदेश अच्छे घोड़ों के लिये सदा से प्रसिद्ध रहा है। पाणिनि ने सिंधु-पार की चंचल घोड़ियों के लिये 'पारे-वड़वा' नाम दिया है (६।२।४२) है। सिंधु के पूरबी ओर के घोड़े जो सिंधु जनपद (सिंधुसागर दुआब) के लंबे मैदानों में विचरते थे, सैंधव नाम से भारतीय साहित्य में विख्यात रहे हैं। सिंधु के पच्छिम और काबुल नदी के दक्षिण में प्राचीन आप्रीत (वर्तमान अफ्रीदी) रहते थे जिनका पाणिनि ने राजन्यादि गण (४।२।५३) में उल्लेख किया है। इनके प्रदेश का नाम आजकल अफ्रीदी-तीरा है। आप्रीतों के साथी मधुमंत (वर्तमान मोहमंद) अप्रीदी इलाके के उत्तर काबुल नदी के उस पार स्वात और कुनड़ (चितराल) नदियों के दुआबे में बसे थे। यह आजकल का

बाजौरवीर प्रदेश है।[१] पाणिनि ने मधुमंतों का सिंध्वादि (४।३।९३), कच्छादि (४।२।१३३) गणों में उल्लेख किया है (मधुमंतों के लिये और द्रष्टव्य भीष्म पर्व ६।५३)। पतंजलि ने द्वीरावतीक देश और त्रीरावतीक देश (१।४।१ वा० १६), इन दो भौगोलिक नामों के जोड़े का उल्लेख किया है। गौरी (पंजकोरा) और काश्कर (कुनड़) इन दो नदियों के बीच का दीर प्राचीन द्वीरावतीक जान पड़ता है जो मधुमंतों (मोहमंदों) का देश था। इसी प्रकार कुभा (काबुल), बरा (बारा नदी जिसपर पेशावर है) और सिंधु, इन तीनों नदियों के बीच का तीरा प्राचीन त्रीरावतीक था जहाँ आप्रीत या अप्रीदी रहते थे।

सिंधु की पच्छिमी सहायक नदी कुर्रम के किनारे निचले हिस्से में बन्नू की दून है। इसका वैदिक नाम क्रमु था। इसका ऊपरी पहाड़ी प्रदेश आज भी कुर्रम कहलाता है और निचला मैदानी भाग बन्नू। पाणिनि ने इसी को वर्णु नद के नाम से प्रसिद्ध वर्णु देश कहा है (वर्णौ वुक्, ४।२।१०३; काशिका, वर्णुनाम नदस्तत्समीपो देशो वर्णुः)। सुवास्त्वादि (४।२।७७) गण के अनुसार वर्णु के पास का प्रदेश 'वार्णव' कहलाता था। इसी की सीध में सिंधु के पूरब की ओर केकय जनपद (७।३।२) था जिसमें सैंधव (सेंधा नमक) का पहाड़ था, जो आधुनिक जेहलम, गुजरात और शाहपुर जिलों का केंद्रीय भाग है। अपने अंतिम भाग में सिंधु नदी सौवीर देश (४।१।१४८) में प्रवेश करती है और फिर समुद्र में मिल जाती है। यह प्रदेश सिंधुकूल और सिंधुवक्त्र कहलाता था। इस प्रकार सिंधु नदी से संबंधित भूगोल का अष्टाध्यायी और उसके प्राचीन टीका-ग्रंथों में विस्तृत उल्लेख आ गया है।

पंजाब की नदियाँ—पंजाब की नदियों में विपाश् (व्यास) का साक्षात् उल्लेख है। उसके किनारे के कुओं से पाणिनि का परिचय था। व्यास के दाहिने किनारे या बाँगर के कुएँ पक्के होते हैं और बाएँ किनारे या खादर के कुएँ हर साल पानी भर जाने से फसल के समय कच्चे खोद लिए जाते हैं। उनका यह भेद कुओं के नामों में प्रकट होता था। काशिका के अनुसार दत्त का बनवाया कुआँ दात्त और गुप्त का गौप्त कहलाता था। जो टिकाऊ नाम थे उनके आदि स्वर का उच्चारण उदात्त होता था। पर व्यास के दक्खिनी किनारे के कच्चे कुओं के नामों में यह उदात्त उच्चारण अंतिम स्वर पर पड़ता था।

१—पंचानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः।
वाहीका नाम ते देशाः................ ॥ (कर्ण पर्व ४४।७)

पंजाब का नाम पाणिनि के समय में वाहीक था जिसकी व्याख्या महाभारत के अनुसार 'सिंधु और उसकी सहायक पाँच नदियों के बीच का प्रदेश' थी। इनमें से चंद्रभागा (आधुनिक चिनाब) का नाम बह्वादि गण में (४।१।४५) अंतर्गण सूत्र के रूप में आया है। पाणिनि के अनुसार भिद्य और उद्ध्य दो नदों के नाम थे (भिद्योद्ध्यौ नदे ३।१।११५)। साहित्य में अन्यत्र इनका उल्लेख नहीं मिलता, केवल कालिदास ने रघुवंश में कुँवर राम-लक्ष्मण के जोड़े के उपमान के रूप में उनका उल्लेख किया है।[१०] बढ़िया से अपने किनारों को तोड़-फोड़ डालनेवाली ये दो बरसाती नदियाँ थीं जिन्हें आचार्य ने प्रसन्न होकर नद कहा है। काशिका के 'उद्ध्येरावति' के उदाहरण से स्पष्ट है कि उद्ध्य इरावती (वर्तमान रावी) की सहायक नदी थी। 'विशिष्टलिंगो नदी देशोऽग्रामाः' (२।४।७) सूत्र के अन्य उदाहरण गंगाशोणम् और प्रत्युदाहरण गंगायमुने में प्रधान और सहायक नदियों के नामों को मिलाकर बननेवाले समास बताए गए हैं। जो नदी जिसमें मिलती है उन दोनों के आधार पर भाषा में नदी-नामों के जोड़े बनते हैं। उद्ध्य का वर्तमान नाम 'उझ' है। यह जम्मू इलाके के जसरौटा जिले में होती हुई कुछ दूर पंजाब में बहकर गुरदासपुर जिले में रावी में दाहिने किनारे पर मिल गई है। उझ के लगभग १५ मील पच्छिम जम्मू प्रदेश से ही बई नाम की दूसरी नदी गुरदासपुर जिले में ही रावी में मिली है, यही प्राचीन भिद्य ज्ञात होती है। इस प्रकार भिद्येरावति, उद्ध्येरावति शब्दों का भाषा में प्रयोग हुआ होगा।

देविका—इस नदी का उल्लेख ७।३।१ सूत्र में हुआ है। भाष्य में देविका के किनारे उगनेवाले चावल 'दाविकाकूलाः शालयः' कहे गए हैं। देविका मद्रदेश में बहनेवाली एक प्रसिद्ध नदी थी (विष्णुधर्मोत्तर पुराण, खंड १, १६७।१५)।[११] वामन पुराण अध्याय ८४ के अनुसार यह रावी की सहायक नदी थी, इससे इसकी निश्चित पहचान देग नदी के साथ होती है जो जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट, शेखूपुरा जिलों में होती हुई रावी में मिल जाती है। देग नदी हर बरसाती बढ़िया में अपने किनारों पर रौसली (रजस्वला या बरसाती) मिट्टी की एक उपजाऊ तह छोड़ती है। आज भी उसके किनारे कई प्रकार के बढ़िया सुगंधित

१०—वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम्॥ (रघुवंश ११।८)

११—उमादेवीति मद्रेषु देविका या सरिद्वरा।

बासमती चावल होते हैं जो देविका के पास में ही स्थित मंडी मुरीदके और कामोकी से बाहर भेजे जाते हैं। आज तक पंजाब में स्यालकोटी चावल प्रसिद्ध हैं जो प्राचीन मद्र के दाविकाकूल शालि ही हैं।

अजिरवती—गंगा के काँठे की नदियों में अजिरवती का नाम अष्टाध्यायी में आया है (६।३।११९)। यही अचिरवती (वर्तमान राप्ती) नदी थी, जिसके किनारे प्राचीन श्रावस्ती स्थित थी।

सरयू—इसका नाम अष्टाध्यायी में आता है, जिससे 'सारव' (सरय्वां भवं, ६।४।१७४) विशेषण बनता था। सरयू नाम की प्रसिद्ध नदी तो कोसल जनपद में है किंतु पच्छिमी अफगानिस्तान की हरिरूद नदी भी, जिसके किनारे हेरात बसा है, प्राचीन ईरानी भाषा में हरयू कहलाती थी जो संस्कृत सरयू का रूप है। ईरानी सम्राट् दारा के लेखों में यहाँ के निवासी को 'हरइव' कहा गया है जो संस्कृत 'सारव' का रूप है।

चर्मण्वती—विंध्याचल की नदियों में चर्मण्वती (चंबल) का नाम सूत्र में आया है (८।२।१२)।

शरावती—इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह प्राच्य और उदीच्य देशों की बीच को सीमा थी।

रुमण्वत्—सूत्र ८।२।१२ में रुमण्वत् शब्द का उल्लेख है। काशिका के अनुसार लवण के स्थान में रुमण् आदेश होने से यह शब्द बना है (लवण शब्दस्य रुमणभावो निपात्यते)। इसका संबंध रुमा (लूणी नदी) नदी से जान पड़ता है जो साँभर झील से निकलती है।

रथस्या—पारस्कर प्रभृति गण में 'रथस्या' नाम की नदी का उल्लेख है (६।१।१५७)। भाष्य में इसका रूप रथस्पा है। जैमिनीय ब्राह्मण में रथस्या (डा० कलां, जैमिनीय ब्राह्मण, अवतरण २०४) और ऋक्तंत्र प्रातिशाख्य (४।७।५) में भी रथस्या आया है। महाभारत के आदि पर्व में सरस्वती और गंडकी के बीच की सात पावन नदियों में इसका नाम रथस्था है।[१२] रथस्था पंचाल देश की रामगंगा नदी (अपर नाम रथवाहिनी) थी जो ऊपरले भाग में अब भी रुहुत कहलाती है।[१३] यूनानी

१२—गंगा, यमुना, सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती, गंडकी (आदिपर्व १७२।२०)। पूना संस्करण में यह श्लोक क्षेपक है, किंतु पाठ रथस्या ही है (पूना, आदि०, पृ० ६६६)।

१३—द्रष्ट० इंपीरियल गजेटियर, उत्तर प्रदेश, भा० १ पृ० १६६

लेखकों के अनुसार गंगा से ११६ मील पूर्व में 'रद्दफ' (Rhodopha) था जो रथस्पा का ही बिगड़ा हुआ रूप है। मध्यकालीन कोशों में पंचाल (बरेली जिले) का राना नाम प्रत्यग्रथ है। यहीं रामगंगा नदी बहती है। रथस्था और प्रत्यग्रथ का अर्थ एक सा है—'जहाँ पहुँचकर रथ ठहर जायँ या पीछे मुड़ जायँ'। पंचाल जनपद के लिये यह संज्ञा बढ़ते हुए आर्यों के अभियान के समय दी हुई जान पड़ती है, जब उनका रथ पंचाल भूमि में आकर रुका। पाणिनि ने भी ४।१।१७३ सूत्र में प्रत्यग्रथ जनपद का उल्लेख किया है।

नद्यां मतुप् (४।२।८५) सूत्र पर स्थान-नाम से रखे हुए नदी-नामों के उदाहरणों में काशिका ने निम्नलिखित छः नाम दिए हैं—(१) उदुंबरावती (२) मशकावती (३) वीरणावती, (४) पुष्करावती, (५) इक्षुमती, (६) द्रुमती। ये सब प्राचीन नदियों के नाम थे। इनमें से उदुंबरावती, मशकावती, इक्षुमती, द्रुमती का उल्लेख भाष्य में भी हुआ है (भा० ४।२।७१ ; काशिका ६।१।२१६ एवं ६।३।११६)।

उदुंबरावती—व्यास और रावी के बीच में त्रिगर्त (काँगड़ा) को जहाँ से रास्ता गया है वहाँ गुरुदासपुर, पठानकोट और नूरपुर इलाके में औदुंबरों के सिक्के मिले हैं। राजन्यादि गण (४।२।५२) में उदुंबर देश के क्षत्रियों को औदुंबरक कहा गया है। महाभारत सभापर्व में भी औदुंबरों का उल्लेख है। औदुंबरों के देश की ही किसी नदी का नाम उदुंबरावती होना चाहिए।

मशकावती—जैसा ऊपर कहा गया है, मशकावती नाम मस्सग या मस्सक से संबंधित है जो गंधार में आश्वकायनों (यूनानी अस्सकेनोइ) की राजधानी थी। यूनानियों के अनुसार मस्सग का किला पहाड़ी था जिसके नीचे नदी बहती थी। अश्वक लोग स्वात नदी के काँठे में रहते थे, उन्होंने चारों ओर से दुरासद मशकावती (मस्सक) के दुर्ग में युद्ध का साज सजाकर अभियान करते हुए सिकंदर का मार्ग छेक दिया। वे जन्मजात लड़ाके थे। उनका जन-जन बच्चा-बच्चा कट गया पर उन्होंने अंत तक युद्ध से मुँह न मोड़ा और विदेशी के सामने घुटने न टेके। प्राचीन अश्वकों की कुछ मुद्राएँ तक्षशिला के पास मिली हैं। मशकावती, पुष्कलावती और वरणावती—ये तीनों राजधानियाँ पश्चिमी गंधार प्रदेश के त्रिकोण में ही थीं।

पुष्करावती—पुष्करावती या पुष्कलावती, जैसा कि ऊपर कहा चुका है, सुवास्तु और कुभा के संगम पर स्थित पच्छिमी गंधार की राजधानी थी जिसके प्राचीन अवशेष आधुनिक चारसद्दा और प्राङ् में पाए गए हैं। इस दृष्टि से संभव

है, गौरी-सुवास्तु संगम तक की सम्मिलित धारा पुष्कलावती कही जाती हो। पाणिनि का 'नद्यां मतुप्' (४।२।८५) सूत्र में कहता है कि देश या स्थान के नाम से ये नदियों के नाम पड़े थे (तन्नाम्नो देशस्य विशेषणं नदी, काशिका)। यूनानी लेखकों के अनुसार सिकंदर के समय पुष्कलावती में अस्तनेनोइ लोगों का अधिकार था। ये ही पाणिनि के हास्तिनायन हैं जिनका सूत्र (६।४।१७४) और गणपाठ दोनों में उल्लेख किया गया है (नडादिगण, ४।१।९९)।

वीरणावती—वीरणावती नदी ही प्राचीन वरणावती ज्ञात होती है। संभवतः अथर्ववेद (४।१।७) की वरणावती भी यही थी। स्वयं पाणिनि ने वरणा वृक्षों के पास स्थित वरणा नाम की एक प्रसिद्ध नगरी का 'वरणादिभ्यश्च' (४।२।८२) सूत्र में उल्लेख किया है (वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः, काशिका)। यूनानी लेखकों ने जिस किले का नाम ओरनोस (Aornos) दिया है वह प्राचीन वरणा ही ज्ञात होता है। इस प्रसिद्ध पहाड़ी दुर्ग में आश्वकायनों और सिकंदर में कसकर लड़ाई हुई थी। आश्वकायनों की शांति-काल की राजधानी मशकावती थी, किंतु संकटकाल के लिये सुदृढ़ पहाड़ी दुर्ग वरणा (Aornos) था। उसकी ठीक पहचान श्री आरल स्टाइन ने ऊण (पश्तो ऊणरा) से की है जो इसी प्रदेश में पर्वतवेष्टित स्थान है। इसी के पास वरणावती नदी होनी चाहिए।

इक्षुमती—इसकी पहिचान गंगा की सहायक नदी फर्रुखाबाद जिले की ईखन (रामायण अयोध्याकांड अ० ६८, इक्षुमती) से की जाती है।

द्रुमती—यह कश्मीर की द्रास नदी ज्ञात होती है।

४।२।८५ सूत्र के प्रत्युदाहरण में भागीरथी और भैमरथी भी नदियों के नाम हैं। भैमरथी दक्षिण की भीमरथी या भीमा नदी है। सूत्र ६।३।११९ पर भी अमरावती आदि छः नदियों के नाम हैं।[१४]

धन्व

पाणिनीय धन्व शब्द का अर्थ मरुभूमि या रेगिस्तान है (धन्व शब्दो मरुदेश वचनः काशिका, ४।२।२१)। पतंजलि ने 'धन्वयोपधाद् वुञ्' (४।२।१२१) सूत्र के प्रसंग में 'पारेधन्व' और 'आष्टक धन्व' इन दो रेगिस्तानों का नाम दिया है। काशिका में 'ऐरावत धन्व' का नाम और है। पारेधन्व का सीधा अर्थ है

१४—चक्रवाकवती, अमरावती, अजिरवती, खदिरवती, पुलिनवती, हंसकारंडववती (काशिका)।

धन्वनः पारम् पारेधन्व (पारेमध्ये षष्ठया वा, २।१।१८), अर्थात् मरुभूमि के उस पार का देश। राजस्थान की मरुभूमि या मारवाड़ का प्राचीन नाम धन्व ज्ञात होता है। इस धन्व प्रदेश के पार पश्चिम में आज तक सिंध प्रांत का पूर्वी भाग 'पारकर' कहलाता है। राजस्थान की मरुस्थली या धन्वस्थली में स्थली शब्द पाणिनि के अनुसार प्राकृतिक मैदान का वाचक है। (४।१।४२, स्थली भववि अकृत्रिका चेत्)। थर पारकर, राजस्थान का थर, और पंजाब में सिंध-सागर दुआब रेगिस्तानी थल, इन तीनों में एक ही थल[१५] या स्थली शब्द है। मरुस्थली के उस पार प्राचीन सौवीर (आधुनिक सिंध) से आनेवाले व्यापारी सामान को 'पारे धन्वक' कहते रहे होंगे। आष्टक धन्व उत्तर-पश्चिमी पंजाब में अटक जिले का पुराना नाम था जिसे आज तक धन्नी कहते हैं। धन्नी-पोठोवार भौगोलिक नामों का प्रसिद्ध जोड़ा है, जिसमें रावलपिंडी और अटक जिले शामिल हैं। रावलपिंडी पहाड़ी और अटक रेगिस्तानी प्रदेश हैं। ये दोनों ही पूर्वी गंधार के अंग थे। जैसे अटक का पुराना नाम आष्टक धन्व था वैसे ही रावलपिंडी प्रदेश की प्राचीन संज्ञा पृथु जनपद थी (भाष्य ४।१।१२०) जिसकी स्मृति पोठवार नाम में है। पतंजलि ने अन्यत्र यहाँ की स्त्रियों को 'पार्थवृन्दारिका' और 'पृदुवृन्दारिका' कहा है (६।३।३४)। महाभारत में 'वृन्दाटक' समस्त पद के रूप में एक भौगोलिक नामों का जोड़ा नकुल की पश्चिमी दिग्विजय के प्रसंग में आया है। (सभापर्व २६।१०)। इनमें सिंध के दक्षिण-पूर्व अटक और उत्तर-पश्चिम में बुनेर का इलाका था। बुनेर का ही पुराना नाम वृंद ज्ञात होता है। इस प्रकार वृंद और अटक दोनों ही प्राचीन गंधार जनपद के अंग थे। वृंद पश्चिमी गंधार में था और अटक पूर्वी गंधार में।

काशिका में आष्टक धन्व और पारेधन्व के अतिरिक्त तीसरा ऐरावत धन्व है। यह भारतवर्ष की सीमा के उस पार मध्य एशिया का गोबी रेगिस्तान जान पड़ता है। महाभारत में लिखा है कि पांडवों ने महागिरि हिमवंत को पार करके बालुकार्णव—बालू के समुद्र—के दर्शन किए (महाप्रस्थानिक पर्व २।१,२) और उसी के पास महापर्वत मेरु को देखा। मेरु निश्चयपूर्वक पामीर का पठार है जहाँ से पूर्व में सीता (यारकंद) और पश्चिम में चक्षु (आमू दरिया) निकलती थी। मेरु

१५—वर्णुपथ जातक से ज्ञात होता है कि वर्णुपथ एक रास्ते का नाम था जो बहुत बारीक जलते हुए बालू के रेगिस्तान को पार करता था। पंजाब के थल के उस पार वर्णु या बन्नू के देश को जानेवाला मार्ग वण्णु पथ था।

के ही उत्तर में उत्तर कुरु था।[१६] भीष्म पर्व के अनुसार यहीं ऐरावत वर्ष था (भीष्म० ६।७)। अतएव ऐरावत वर्ष और ऐरावत धन्व दोनों का स्थान मध्य-एशिया का बड़ा रेगिस्तानी प्रदेश ही ज्ञात होता है।

जनपद

सूत्रकाल में जनपद भारतीय भूगोल का सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द था। वस्तुतः भारतीय इतिहास में युग-विभाग की दृष्टि से सूत्रकाल का ठीक नामकरण महा-जनपद युग है। इस समय सारा देश जनपदों में बँटा हुआ था, जिनकी बड़ी सूचियाँ भुवनकोश के नाम से लिपिबद्ध कर ली गई थीं, जो महाभारत आदि[१७] प्राचीन ग्रंथों में सुरक्षित हैं। पाणिनीय भूगोल का प्रधान अंग जनपद-विभाग है। जनपद सांस्कृतिक, राजनैतिक, भौगोलिक और भाषा की दृष्टि से एक स्वाभाविक इकाई होता था। काशिकाकार ने गाँवों के समुदाय को जनपद कहा है—'ग्रामसमुदायो जनपदः' (४।२।१)। यहाँ ग्राम शब्द में नगर का भी अंतर्भाव समझना चाहिए। वस्तुतः जनपद में नगर और गाँव दोनों शामिल थे। जनपदों की राजनीतिक सीमाएँ बदलती रहती थीं, किंतु उनके सांस्कृतिक जीवन का प्रवाह चलता रहता था। भाषाओं की इकाई के रूप में कितने ही पुराने जनपद अभी तक बचे रह गए हैं, जैसे पैशाची भाषा का क्षेत्र दरद् जनपद, ब्रजबोली का शूरसेन जनपद, अवधी या कोसली भाषा का कोसल जनपद, मगधी का मगध जनपद।

जनपदों का जो ताँता फैला हुआ था उसमें एक जनपद को दूसरे जनपद से अलग करनेवाली नदी-पर्वत आदि की प्राकृतिक सीमाएँ थीं, एवं दो बड़े जनपदों

१६—मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे। उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः॥ (भीष्म पर्व ७।२)

१७—जनपद-सूचियाँ—महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय ९; मार्कंडेय पुराण, अध्याय ५७; वायुपुराण, अध्याय ४५; ब्रह्मांड पुराण अ० ४६; मत्स्य पुराण अ० ११४; वामन पुराण अ० १३। भीष्म पर्व की जनपद-सूची में लगभग २५० जनपदों के नाम हैं। एक बार प्रारंभ हुई यह परंपरा बाद तक चलती रही। वराहमिहिर की बृहत् संहिता (लगभग छठी शताब्दी) एवं राजशेखरकृत काव्यमीमांसा(लगभग नवीं शताब्दी) अध्याय १७ में साठ जनपदों के नाम हैं। वर्णरत्नाकर (चौदहवीं शताब्दी, पृष्ठ ६१), पृथ्वीचंद्र चरित (१४२१, ९८ देशों के नाम, पृष्ठ १३६), आईन अकबरी (सोलहवीं शती) आदि ग्रंथों में प्राचीन जनपद-सूचियों की परंपरा समयानुसार फेरफार के साथ आगे बराबर चालू रही।

के बीच में छोटे-छोटे जनपद भी सीमाएँ बनाते थे। काशिकाकार ने लिखा है कि एक जनपद की सीमा दूसरा जनपद ही हो एक सकता है, गाँव नहीं (जनपदतद्-वध्योश्च, ४।१।१२४, तदवधिरपि जनपद एव गृह्यते न ग्रामः)। जैसे बड़े जनपदों के नामों में प्रत्यय लगाकर विशेषणवाचक शब्द बनते थे, वैसे ही उनकी सीमा के छोटे जनपदों से भी। जो जनपद विस्तार में बड़े थे उनके कई हिस्सों के अलग-अलग नाम भी पड़ते थे; ऐसे कई जनपदों के नाम व्याकरण साहित्य के उदाहरणों में बचे गए हैं, जैसे पूर्वमद्र, अपरमद्र (४।२।१०८); पूर्व पंचाल, अपर पंचाल (६।२।१०३)। इस प्रकार दिशावाची शब्द जोड़कर जनपद के विभागों का नाम-करण करने के लिये पाणिनि ने विशेष नियम बताया है (दिक्शब्दा ग्रामजनपदा-ख्यानचानराटेषु, ६।२।१०३)। मद्र जनपद बहुत बड़ा था। रावी से झेलम तक उसका विस्तार था। बीच की चनाब नदी उसे दो हिस्सों में बाँटती थी। स्वभावतः झेलम और चनाब के बीच का पच्छिमी भाग अपरमद्र (आजकल का गुजरात जिला) और चनाब एवं रावी के बीच का भाग पूर्व मद्र (आधुनिक स्यालकोट और गुजरांवाला) कहलाता था। मद्र जनपद की राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी। वस्तुतः मद्र ही ठेठ पंजाब था। यहीं के राजा शल्य और अंग देश के राजा कर्ण की तू-तू मैं-मैं का सजीव वर्णन महाभारत के कर्णपर्व में आया है जिसमें ठेठ पंजाब के रहन-सहन का चित्रण है। पूर्वी मद्र का निवासी पौर्वमद्र और पच्छिमी मद्र का आपरमद्र कहलाता था। ये नाम लोक में बिना कारण प्रयुक्त नहीं हो सकते। स्यालकोट और गुजरात की बोली, आचार, वेश और लोगों के रहन-सहन और स्वास्थ्य में जो भेद और विशेषताएँ आज भी हैं उनको सूचित करने के लिये पौर्वमद्र आपरमद्र नामों की आवश्यकता पड़ी होगी।

इसी तरह पंचाल जनपद के तीन हिस्से थे—(१) पूर्व पंचाल (२) अपर पंचाल और (३) दक्षिण पंचाल (७।३।१३)। महाभारत के अनुसार दक्षिण और उत्तर पंचाल के बीच गंगा नदी सीमा थी। एटा-फर्रुखाबाद के जिले दक्षिण पंचाल थे। ज्ञात होता है कि उत्तर पंचाल के भी पूर्व और अपर दो भाग थे, दोनों को रामगंगा नदी बाँटती थी। ये ही भाग व्याकरण के पूर्व-पंचाल अपर-पंचाल हैं। इस प्रकार समस्त जनपद अथवा उसके आधे भाग के वाचक नाम भाषा में चालू थे जिनके लिये विशेष सूत्र में विधान किया गया है (सुसर्वार्धा-ज्जनपदस्य, ७।३।१२); जैसे सर्वपंचाल, अर्धपंचाल।

संस्कृत भाषा का यह नियम है कि जनपदवाची नाम सदा बहुवचन में

आते हैं, जैसे पंचालाः, कुरवः, मत्स्याः, अंगाः, वंगाः, मगधाः, काशयः, अवंतयः, गंधाराः आदि। जनपद या जातीय भूमियों के इतिहास में तीन अवस्थाएँ देखी जाती हैं। सबसे पहिले घुमंतू कबीलों का युग था, वे जन कहलाते थे। फिरंदर अवस्था में जन का संबंध भूमि से निश्चित नहीं हुआ था। एक जनपद के सदस्य आपस में रक्त-संबंध से बँधे थे। घुमंतू या उठाऊ-चूल्हा जन समय पाकर स्थान-विशेष पर बस गया उसका वह पद या ठिकाना जनपद कहलाया। जन के जो क्षत्रिय थे, उन्हीं में जनपद की मिलकियत या ठकुराई कायम हुई और इसलिये जनपद का नाम भी वही था जो जन के क्षत्रियों का था। जैसे कुरवः क्षत्रियाः और कुरवः जनपदः। यही कारण है कि संस्कृत में जनपदों के नाम बहुवचनांत ही मिलते हैं। कुरवः = (१) कुरु क्षत्रिय लोग, (२) कुरुओं का प्रदेश या भूमियाँ (कुरूणां निवासः)। स्पष्ट है कि यहाँ एक ही कुरवः शब्द के दो अलग-अलग अर्थ हैं। व्याकरण की माँग है कि 'कुरुओं का निवास', इस विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिये मूल कुरु शब्द में एक प्रत्यय लगना चाहिए। पाणिनि का मत है कि प्रत्यय तो अवश्य लगता है किंतु उसका लोप हो जाता है। 'जनपदे लुप्' (४।२।८१) सूत्र का यही प्रयोजन है। वस्तुतः पाणिनि को यह सूत्र बनाने की आवश्यकता न थी। क्षत्रिय-नाम और जनपद-नाम, इन दोनों की एकता लोक से सिद्ध थी। कुरु क्षत्रिय यहाँ बसे हुए हैं, इसलिये यह प्रदेश कुरु कहलाता है, इस तरह का ज्ञान जनपदवाची 'कुरवः' शब्द का व्यवहार करनेवालों के मन में नहीं आता था, बल्कि वे उस नाम को स्वयंसिद्ध समझकर उसका व्यवहार करते थे। सिद्धांत रूप से इस स्थिति को पाणिनि ने भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि यौगिक अर्थ की प्रतीति न होने के कारण 'कुरवः', 'पंचालाः',—इन शब्दों में निवासवाची प्रत्यय लगाकर फिर उसका लोप करने के झंझट में न पड़ना चाहिए (लुब् अशिष्यः, योगाप्रख्यानात्, १।२।५४)।

इस प्रकार जन और जनपद-विकास की दो अवस्थाएँ हुईं। जब देश का नाम 'कुरवः' हुआ, तब उस जनपद में कुरुक्षत्रियों के अलावा और भी लोगों का आकर बस जाना स्वाभाविक था। अलग-अलग पेशे के और अलग-अलग वर्ण और जातियों के लोग यहाँ आकर बस गए और इस प्रकार सम्मिलित जनपदीय जीवन का विकास हुआ। जातकों में पेशेवर लोगों के द्वारा जनपदीय आर्थिक जीवन को समृद्ध करने का अच्छा चित्र मिलता है। पाणिनि ने भी जनपदों में बढ़ती हुई इस हुनरमंदी या पेशों का 'जानपदी वृत्ति' के नाम से उल्लेख किया है

(४।१।४२)। जनपदीय जीवन में इतर लोगों के भर जाने पर भी राजनैतिक जीवन प्राचीन जन के उत्तराधिकारी क्षत्रियों के हाथ में ही रहा। औरों से इनकी पृथक्ता सूचित करने के लिये ये क्षत्रिय लोग 'जनपदिन्' कहलाए, अर्थात् प्राचीन 'जन' के स्थान में 'जनपदिन्' नई संज्ञा व्यवहार में आई (जनपदिनः = जनपद-स्वामिनः क्षत्रियाः, काशिका ४।३।१००)। जहाँ तक भौगोलिक नामों का संबंध है, जन और जनपद की पूर्ववर्ती स्थिति में जन से जनपद का नाम पड़ा था (जैसे कुरुओं से 'कुरवः' जनपद)। किंतु जनपद और जनपदिन् की उत्तरकालीन स्थिति में जनपद के नाम से जनपद-स्वामी क्षत्रियों का नाम पड़ा हुआ समझा गया, जैसे 'कुरवः' जनपद जिनका निवासस्थान था वे क्षत्रिय 'कुरवः जनपदिनः' कहलाए। देश और वहाँ के क्षत्रिय दोनों के नाम बहुवचन में समान होते थे, इस लौकिक सचाई का पाणिनि ने शब्दों की उदारता के साथ स्पष्ट उल्लेख किया है—

जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने (४।३।१००)।

जनपद राजनैतिक दृष्टि से दो प्रकार के हो गए थे—पहिले संघ और दूसरे एकराज। संघ-शासनवाले जनपदों में क्षत्रियगण का राज्य था। वे क्षत्रिय और जनपद एक नाम से पुकारे जाते थे, जैसा कि हम देख चुके हैं। इधर एकराज जनपदों में, जहाँ एक व्यक्ति राजा होता था, स्थिति यह थी कि जनपद के राजा का नाम और जनपद के प्रत्येक नागरिक क्षत्रिय के पुत्र का नाम एक-सा होता था।[१८] जैसे पंचाल क्षत्रिय का लड़का पांचाल और पंचाल जनपद का राजा भी पांचाल कहलाता था। प्राचीन साहित्य में माद्री, पांचाली, गांधारी आदि जो नाम मिलते हैं वे जनपद-स्वामी क्षत्रियों की लड़कियों के थे। ज्ञात होता है कि व्यवहार में इन नामों का बहुत अधिक महत्त्व रहा होगा और लोग अपने नामों के आगे जनपदवाची विशेषण नियमपूर्वक लगाते रहे होंगे, तभी पाणिनि ने अधिक विस्तार से इस प्रकार के नामों की व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया है (४।१।१६८–१७३)।

एक जनपद में बसनेवाले सब लोग आपस में 'सजनपद' कहलाते थे (समानः जनपदः सजनपदः, ६।३।८५)। समान संबंध की यह भावना एक

१८—जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६८) जनपद का नाम और क्षत्रिय का नाम एक हो तो उस क्षत्रिय से अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। इसपर कात्यायन का वार्तिक है—क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजनि अपत्यवत्, अर्थात् जनपद और क्षत्रिय का एक सा नाम हो तो राजा के लिये भी वही प्रत्यय होना चाहिए जो अपत्य के लिये हो।

जनपद में रहनेवाले ऊँच-नीच सभी लोगों में आज तक चली आई है। जैसे, सब ब्रजवासी इतर जनों की अपेक्षा सजनपद संबंध के कारण आपस में अधिक सांनिध्य का अनुभव करते हैं। यही बात मद्र, मगध, सुराष्ट्र आदि जनपदों में भी चरितार्थ होती है।

महाजनपद-युग के सोलह जनपदों के नाम बौद्ध साहित्य में प्रायः आते हैं। उनमें से ये नौ नाम पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी में दिए हैं - मगध, काशि, कोसल, वृजि, कुरु, अश्मक, अवंति, गंधार और कंबोज। इस सूची में कंबोज से मगध तक और दक्षिण में अश्मक-अवंति तक का प्रदेश आ जाता है। राजनैतिक दृष्टि से पाणिनि के समय में निम्नलिखित जनपद एकराज शासन के अधीन थे—मगध, कलिंग, सूरमस (असम प्रांत) कोसल, कुरु, प्रत्यग्रथ (पंचाल), अश्मक, साल्वेय, गांधारि, साल्व, कंबोज, अवंति, कुंति। देश में यह राजनैतिक स्थिति किस समय थी ?–इस प्रश्न का पाणिनि के काल-निर्धारण से घनिष्ठ संबंध है।

अष्टाध्यायी में जिन जनपदों के नाम आए हैं उनका कुछ ब्यौरा इस प्रकार है–

कंबोज (४।१।१७५)—पाणिनि के समय में यह एकराज जनपद था। यहाँ का राजा और क्षत्रियकुमार दोनों कंबोज कहलाते थे (अपत्यवाची और राजावाची प्रत्ययों का 'कम्बोजाल्लुक्' सूत्र से लोप होता है)। कच्छादि (४।२।१३३), सिन्ध्वादि (४।३।९३) गणों में सिंधु, वर्णु, गंधार, मधुमत्, कंबोज, कश्मीर, साल्व और कुलुन, इन आठ जनपदों के नाम सामान्य हैं जो पाणिनिकृत प्रतीत होते हैं। कंबोज की ठीक पहिचान भारत के उत्तर-पच्छिमी भूगोल के लिये महत्त्वपूर्ण है। गंधार, कपिश, बाल्हीक और कंबोज—इन चार महाजनपदों का एक चौगड्डा था। मध्य एशिया और अफगानिस्तान के नकशे में इनकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि हम देखेंगे, हिंदुकुश के उत्तर-पूरब में कंबोज, उत्तर-पच्छिम में बाल्हीक, दक्षिण-पूर्व में गंधार और दक्षिण-पश्चिम में कपिश था। आधुनिक 'पामीर' और 'बदख्शाँ' का सम्मिलित प्राचीन नाम कंबोज जनपद था और उसी से सटा हुआ 'दरवाज' का इलाका था जिसकी पहचान डा० मोतीचंद्र ने द्वारका से की है। इसे पेतवत्थु (परमत्थदीपनी टीका, पाली टेक्स्ट सोसाइटी, भाग ३, पृ० ११३) के आधार पर डा० राइस डेविड्स ने कंबोज की राजधानी मान लिया था, जो सप्रमाण नहीं है। कंबोज के दक्षिण में पूर्व-पश्चिम फैली हुई हिंदुकुश की ऊँची पर्वत-शृंखला कंबोज को भारतवर्ष से अलग करती थी। बदख्शाँ का प्राचीन

नाम मोतीचंद्र जी की पहचान के अनुसार द्व्यक्ष था। पाणिनि ने द्व्यक्षायण और त्र्यक्षायण देशवाची नाम साथ-साथ पढ़े हैं (ऐषुकारिगण, ४।२।५४)। महाभारत में द्व्यक्ष, त्र्यक्ष और ललाटाक्ष,[19] तीन जनपदों के नाम आते हैं। इनमें द्व्याक्षायण बदख्शाँ का और ललाटाक्ष लद्दाख (कश्मीर का उत्तरपूर्वी भाग) का प्राचीन नाम था।

प्रोफेसर लासें ने कंबोज की पहिचान काशगर के दक्षिणी प्रदेश से ठीक ही की थी[20] किंतु उसपर किसी ने ध्यान नहीं दिया। कंबोज के पश्चिम, वंक्षु के दक्षिण और हिंदूकुश के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश बाल्हीक महाजनपद था। हिंदूकुश के दक्षिण-पूर्व में काबुल और सिंध नदी के कोने में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पश्चिमी गंधार का जनपद था। बाल्हीक और गंधार के बीच में गंधार से मिला हुआ उसके पच्छिम में कपिश जनपद था। पामीर के ठीक दक्षिण हुंजा और गिलगित का प्रदेश प्राचीन दरद् जनपद था।

यास्क ने लिखा है कि गत्यर्थक शवति धातु कंबोज देश में ही बोली जाती है (शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते)। कंबोज या वक्षु के उद्गम-प्रदेश की गल्चा नामक बोलियों में यह विशेषता अभी तक पाई जाती है, जैसा श्री ग्रियर्सन ने स्पष्ट उल्लेख किया है (भारतीय भाषाओं का पर्यवेक्षण, भाग १०, पृ० ४६८,४७३, ४७४, ४७६, ५००)।

प्रकण्व—पाणिनीय सूत्र ६।१।१५३ में प्रस्कण्व एक ऋषि का नाम है। इसी का प्रत्युदाहरण प्रकण्व है जो एक देश का नाम है (प्रकण्वो देशः, काशिका)। यूनानी इतिहास-लेखक हीरोदोतस ने 'परिकनिओई' (Parikanioi) नामक जाति का उल्लेख किया है जिसकी पहिचान स्टेनकोनो ने फरगना के लोगों से की है (खरोष्ठी शिलालेख, भूमिका, पृष्ठ १८)। ज्ञात होता है कि प्रकण्व ही 'परिक-

---

१९—सभापर्व, ५१।१७

२०—कंबोज की ठीक पहिचान के लिये मैं श्री जयचंद्र विद्यालंकार और श्री डा० मोतीचंद्र का आभारी हूँ (जयचंद्र, भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० २९७, ३०३; मोतीचंद्र, उपायन पर्व, पृष्ठ४३)। कुछ विद्वान् कश्मीर के रजौरी और हजारा प्रदेश के साथ कंबोज की पहिचान करते हैं, जो भ्रांत है।

निओई' या फरगना का प्राचीन नाम था। इस प्रकार प्रकण्व देश भी मध्य एशिया के भूगोल का अंग था।[२१]

गंधार—पाणिनि ने इस जनपद का अधिक पुराना नाम गांधारि सूत्र में (४।१।६९) दिया है। वहाँ के राजा और उनके पुत्र दोनों गांधार कहलाते थे। बाद का नाम गंधार गणपाठ में मिलता है। यूनानी नाम 'गंदराइ' और 'गंदराइति' गांधारि के निकट हैं। ज्ञात होता है कि गांधारि मूल में जन की संज्ञा थी जिससे जनपद का नाम 'गांधारि' हुआ। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंधार महाजनपद कुनड़ या काश्कर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। पश्चिमी गंधार की राजधानी पुष्कलावती (यूनानी पिउकलाउती) थी जहाँ स्वात और काबुल नदी के संगम पर वर्तमान चारसद्दा है। मार्कंडेय पुराण में 'पुष्कलाः' जनपद का नाम आया है (५७।३९), जिसका स्थान पुष्कलावती होना चाहिए। सुवास्तु और गौरी नदियों के बीच में उड्डियान (प्राचीन उर्दि देश) था, जो गंधार का ही एक भाग था। यहाँ के बने हुए कंबल पांडुकंबल कहलाते थे जो पाणिनि के अनुसार (४।२।११) रथ मढ़ने के काम में आते थे।

सिंधु—सिंधु नद के पूर्व में सिंध-सागर दुआब का पुराना नाम सिंधु था। सिंधु में उत्पन्न मनुष्य सिंधुक कहलाता था (सिन्ध्वपकराभ्यां कन्, ४।३।३२)। सिंधु में जिसके पूर्वज रहते थे अर्थात् जिसका निकास सिंधु जनपद से था, उसकी संज्ञा सैंधव होती थी (सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ, ४।३।९२)। पाणिनि ने कुछ सिंध्वंत नामों का उल्लेख किया है (७।३।१९), जिसके उदाहरण में काशिका ने सक्तु-सिंधु और पानसिंधु, इन दो भागों का उल्लेख किया है। ये दोनों नाम भोजन की स्थानीय आदतों को लेकर लोक में चालू हुए थे। जहाँ के लोग सत्तू खाने के अभ्यासी थे वह भाग सक्तु-सिंधु और जहाँ के लोग पान के शौकीन थे वह पान-सिंधु कहलाने लगा (सक्तुप्रधानाः सिंधवः सक्तुसिंधवः, पानप्रधानाः सिंधवः पानसिंधवः)। संभवतः ये नाम उत्तरी और दक्षिणी सिंधु जनपद के लिये प्रयुक्त होते थे। उत्तरी सिंध दुआब में जिला डेरा इस्माईल खाँ की तरफ आज भी सत्तू

२१—अंतगडदसाओ में विदेशी दासियों की एक सूची है—बर्बरी, यवनी, पल्हवी, इसिणी (ऋषिक या यूची), सिंहली आरबी (अरब), पकणी, बहली (बाल्हीक देश की), मुरुंडी, पारसीकी। इनमें पकणी स्त्री प्रकण्व या फरगने की थी (मोतीचंद्र, भारतीय वेशभूषा, पृ० १४१)।

वहाँ का जातीय भोजन हैं। स्त्रियाँ सत्तू की सौगात भेजती हैं और यात्रा में यात्री सत्तू साथ बाँधकर चलते हैं। दूसरी ओर महाभारत में सिंधु के राजा जयद्रथ को क्षीराभ्भोजी कहा गया है (द्रोण पर्व ७६।१८)। जयद्रथ सौवीर (आधुनिक सिंध का उत्तरी भाग) और उसके ऊपर दक्षिणी सिंधु जनपद का राजा था। क्षीर-भोजन दक्षिणी सिंधु की विशेषता समझा जाता था। 'पानं देशे' सूत्र अष्टाध्यायी (८।४।६) और चंद्र व्याकरण (६।४।१०६) दोनों में है। इसका उदाहरण देते हुए चांद्रवृत्ति में कहा है कि उशीनर के लोगों में दूध पीने का आम रिवाज था। चनाब के पश्चिम में सिंधु और पूरब में उशीनर प्रांत (झंग मघियाना) था। वर्तमान मिंटगुमरी से लैया-देराजात तक का कुल प्रदेश गायों के लिये प्रसिद्ध था। मिंटगुमरी की साहिवाल गाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। क्षीरपान यहाँ के भोजन की विशेषता थी। चरक से भी इसका समर्थन होता है, जहाँ सैंधव लोगों को दूध पीने का शौकीन कहा गया है (चिकित्सा स्थान, ३०।३१७)। पानसिंधु प्रदेश का व्यक्ति जब कहीं जाता, वह सैंधव कहलाता था और सक्तुसिंधु का साक्तुसैंधव।

'सिंध्वपकराभ्यां कन्' (४।३।३२) सूत्र के अनुसार देशवाची 'अपकर' शब्द से वहाँ का निवासी अपकरक कहलाता था। अपकर, बहुत संभव है, मियाँवाली जिले का भक्खर हो। सिंधु जनपद में यह दक्खिनी रास्ते का नाका था जहाँ सिंधु नदी पार करके प्राचीन गोमती (आधुनिक गोमल) के किनारे गोमल दर्रे से गजनी को रास्ता जाता था। व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से भक्खर महत्त्वपूर्ण घाटा था।[२२]

भारतीय साहित्य में सिंधु-सौवीर, यह दो जनपद-नामों का जोड़ा प्रसिद्ध हो गया था। भौगोलिक दृष्टि से इन दोनों की सीमाएँ एक दूसरे से सटी हुई थीं, जैसा कि सौवीर की पहिचान से ज्ञात होगा।

सौवीर (४।१।१४८)—वर्तमान सिंध प्रांत या सिंध नद के निचले कोठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरुव (संस्कृत रौरुक)[२३] वर्तमान रोड़ी है। यहाँ पुराने शहर के भग्नावशेष हैं। रोड़ी के उस पार सिंध के दाहिने

२२—महमूद गजनवी गजनी से सीधे गोमल लाँघकर डेराइस्माइल खाँ के जरा नीचे भक्खर पर सिंध पार करता और इसी रास्ते भारत में आया करता था।

२३—दंतपुरं कलिंगानां अस्सकानांच पोतनम्।
माहिस्सती अवन्तीनां सौवीरानां च रोरुवम्॥

किनारे का प्रसिद्ध स्थान सक्खर है जिसका पुराना नाम 'शर्करा' था जो पाणिनि के 'शर्करायाः वा' (४।२।८३) सूत्र में आया है। शर्करा से चातुरर्थिक प्रत्यय लगाकर छः शब्दरूप बनते थे—(१) शर्करा, (२) शर्कर, (३) शर्करिक, (४) शार्करक, (५) शार्करिक और (६) शार्करीय। पाणिनि ने सौवीर देश के गोत्रों का सामान्य रूप से उल्लेख किया है। वहीं के फांटाहृति और मिमत गोत्रों का विशेष नामोल्लेख भी एक सूत्र में किया गया है (४।१।१५०)। फांटाहृति गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति फांटाहृत या फांटाहृतायनि और मिमत में उत्पन्न मैमत या मैमतायनि कहलाता था। मैमतायनि आचार्य का उल्लेख चरक-संहिता के आरंभ में आयुर्वेद में रुचि रखनेवाले ऋषियों की नामावली में आया है (सूत्रस्थान, १।१३)। अकशाप, यमुंद, भागवित्ति और तार्णबिंदव—इन सौवीर गोत्रों का भी काशिका ने पाणिनि-सूत्रों का उदाहरण देते हुए उल्लेख किया है (४।१।१४८-१४६)। इस समय सिंधी नामों के अंत में जो आनी प्रत्यय (जैसे वस्वानी, कृपलानी) देखा जाता है उसका मूल अष्टाध्यायी में 'आयनि' के रूप में है। भागवित्तियों की पहिचान बुगतियों से की जा सकती है जो सिंध के उत्तरी प्रांत में आबाद हैं।

अन्यत्र पाणिनि ने सौवीर जनपदों के नगरों के नाम बनाने का भी उल्लेख किया है (स्त्रीषु सौवीर साल्वप्राक्षु, ४।२।७६)। इसका उदाहरण काशिका में दत्तामित्र की बसाई हुई 'दात्तामित्री' (दत्तामित्रेण निर्वृता) नगरी है। यह उदाहरण पाणिनि से बाद का है। भारत के यूनानी राजा डिमीट्रियस का संस्कृत नाम दत्तामित्र था।[२४] उसने एक ओर सिंधु तक का देश जीत लिया था और दूसरी ओर पुष्यमित्र शुंग से भी उसका युद्ध हुआ था। महाभारत आदि-पर्व में इसी का नाम यवनाधिप दत्तमित्र कहा गया है जिसने तीन वर्ष में गंधर्व (वर्तमान गंधार) देश जीतकर फिर सौवीर देश जीत लिया था (आदिपर्व १४१। २१-२३)। महाभारत में यह प्रकरण लगभग शुंगकाल के बाद जोड़ा गया है। पूना के संशोधित संस्करण के अनुसार यह क्षेपक है।

धूमादि गण में सौवीर जनपद के कूल या समुद्री तट का उल्लेख है (कूलात्सौवीरेषु ४।१।१२७)। यह कोटरी से लेकर समुद्र-तट तक फैले हुए सिंध के मुहाने

२४—इसी का नाम प्राकृत में दिमित्र या दिमित था। दात्तामित्री नगरी के निवासी दानदाता का उल्लेख नासिक गुफा के लेखों में 'दातामितीयक' नाम से हुआ है। (ल्यूडर्स कृत ब्राह्मी लेख-सूची, सं० ११४४)

या नदीमुख का पुराना नाम था। श्युआन् चुआङ् (सातवीं शती) ने सौवीर जनपद के चार भाग कहे हैं—उपला, बिचला, निचला और कच्छ। ऊपरले भाग में पाणिनि के समय में शौद्रायण, मसूरकर्ण और मुचुकर्णि जनपद थे। ऊपरले सौवीर की राजधानी रोरुक (वर्तमान अलोर = अरबी अल् + रोर अर्थात् रोर नगर) थी। जब अलोर उजड़ा तब उसी के नाम से पास में रोड़ी आबाद हुई। आज भी अलोर की जड़ में अभिजन नामक छोटा गाँव आबाद है जो बताता है कि अलोर रोड़ी से पहिले पूर्वजों की बस्ती थी (यत्र पूर्वैरुषितं सोऽभिजनः, काशिका ४।३। ९०)। बिचला सौवीर ब्राह्मण जनपद और निचला भाग सौवीरकूल था। चौथा भाग कच्छ स्वतंत्र जनपद था (४।२।१३३)

ब्राह्मणक—अष्टाध्यायी में ब्राह्मणक एक देश का नाम है (ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्, ५।२।७१)। पतंजलि के अनुसार यह एक जनपद था (ब्राह्मणको नाम जनपदः, ४।२।१०४, वा० ३०)। इसकी पहचान यूनानी लेखकों के ब्राखमनोई (Brachmanoi, अर्रियन ६।१६, वर्तमान ब्राह्मणाबाद, सिंध प्रांत के मध्य में मीरपुर खास से लगभग २५ मील उत्तर) से की जा सकती है। यहाँ प्राचीन काल के विस्तृत ध्वंसावशेष हैं। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में पश्चिमी जनपदों की सूची में इसे ब्राह्मणवह[२५] कहा है। यूनानी लेखक प्लूटार्क के अनुसार यहाँ के निवासी दार्शनिक विद्वान् थे और अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये मर मिटने को तैयार रहते थे। उन्होंने आयुधजीवी संघों की तरह डटकर सिकंदर से लोहा लिया और पड़ोसी राज्यों को भी स्वतंत्रता के रक्षार्थ युद्ध के लिये उत्तेजित किया (जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र)।

इसी जनपद से मिला हुआ दूसरा जनपद शूद्रों का था। पाणिनि ने ऐषुकार्यादिगण (४।२।५४) में शौद्रायणों का उल्लेख किया है। इस सूची में उन देशों की गिनती है जिनका नाम वहाँ के निवासी जनों के अनुसार पड़ता था। पतंजलि ने अब्राह्मणक देश और अवृषलकदेश—इन दो भौगोलिक नामों के जोड़े का उल्लेख किया है (१।४।१०–१९)। अब्राह्मणक शौद्रायण जनपद की और अवृषलक ब्राह्मणक जनपद की संज्ञा होनी चाहिए। ब्राह्मणक जनपद की तरह शौद्रायण लोग (यूनानी रूप 'सोडराई') भी सिकंदर से लड़े थे। डायडोरस ने लिखा है कि

२५—अरब भूगोलकार अबूरिहां ने इसका हिंदू नाम बमनवा दिया है जो ब्राह्मणवह का ठीक देशी रूप है।

सोडराई सिंध नद के पूर्वी तट के प्रदेश में और मस्सनई पच्छिमी तट पर थे। मस्सनई का शुद्ध रूप टालेमी ने मुसरनई (Musarnai) दिया है जो पाणिनि का मसुरकर्ण या मसूरकर्ण (४।१।११२, २।४।६६) है। मिठनकोट से नीचे सिंध नदी के पच्छिम मुजरक का जिला प्राचीन मसूरकर्ण का इलाका था।

यूनानी लेखकों के अनुसार सिकंदर ने शौद्रायण और मसूरकर्ण जातियों से संधि करने के बाद सिंधु देश के मुसकर्ानि नामक जनपद में प्रवेश किया जो भारतवर्ष भर में सबसे समृद्ध कहा जाता था। इसकी पहिचान पाणिनि के मुचकर्ण से की गई है (कुमुदादिगण ४।२।८०) जहाँ के निवासी मौचकर्णिक कहलाते थे। इनका स्थान उपरले सौवीर में शौद्रायणों के दक्षिण में था। कनिंघम के अनुसार इनकी राजधानी अलोर अर्थात् प्राचीन रोरुक नगर थी।

पारस्कर (६।१।१४७)—ऋकतंत्र में पारस्कर पर्वत का नाम है (४।२।१०)। किंतु पतंजलि ने पारस्कर को एक देश का नाम कहा है (पारस्करो देशः, ६।१।१४७)। यह सिंध का पूर्वी जिला थर-पारकर जान पड़ता है। थर रेगिस्तानवाची थल का सिंधी रूप है। कच्छ के इरिण या रन्न प्रदेश के उत्तर का समस्त भूभाग पारकर देश था।

कच्छ (४।२।१३३)—सिंध के ठीक दक्षिण में कच्छ जनपद है। पाणिनि ने कच्छी मनुष्य को काच्छक कहा है और वहाँ के लोगों का कुछ विशेषताओं का भी सूत्र में संकेत किया है (मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् ४।२।१३४)। काशिका में इसके तीन उदाहरण हैं—(१) काच्छकं हसितम् (कच्छवालों के हँसने का ढंग); (२) काच्छकं जल्पितम् (कच्छवालों के बोलने का ढंग) (३) काच्छिका चूड़ा (कच्छवालों के सिर के बाल)।

कच्छी बोली में वाक्य के अंतिम भाग को कुछ तरल या प्रवाहित करके बोलते हैं। कच्छ देश में लोहाने क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं। पाणिनि ने नडादिगण में नाडायन चारायण की भाँति लोह से लौहायन अपत्य अर्थ में सिद्ध किया है। ज्ञात होता है कि ये लौहायन लोहाने ही हैं। इसी गणपाठ में सौवीर के मिमत गोत्र और उनके अपत्य मैमतायन का भी उल्लेख है। लोहाने लोग अभी तक अपने सिर के बालों का अगला आधा भाग मुँडा हुआ रखते हैं, यही काच्छिका चूड़ा की विशेषता हो सकती है। काशिका ने इसी सूत्र के प्रत्युदाहरण में कच्छी बैलों (काच्छः गौः) का भी उल्लेख किया है। इस नस्ल के पतले सींगों वाले नाटे चंचल बैल अभी तक प्रसिद्ध हैं।

एक दूसरे सूत्र में पाणिनि ने कच्छांत देशवाची नामों का उल्लेख किया है (कच्छाग्निवक्त्रगर्तोत्तरपदात् ४।२।१२६)। उसके उदाहरण में काशिका ने पुराने भौगोलिक नामों का एक जोड़ा दारुकच्छ और पिप्पलीकच्छ दिया है। दारुकच्छ काठियावाड़ (दारु = काष्ठ) का समुद्र-तट का प्रदेश और पिप्पलीकच्छ रेवा काँठे का सूरत से बड़ोदा तक का किनारा था जिसमें पीपला रियासत है, और ठीक समुद्र तट पर भृगुकच्छ (वर्तमान भड़ोंच) है। खंभात की खाड़ी के मस्तक पर साबरमती (श्वभ्रमती) की धारा समुद्र में मिली है, उसकी दाहिनी ओर का समुद्रतट दारुकच्छ और बाईं ओर का पिप्पलीकच्छ कहलाता था।

सूत्र ४।२।१२६ पर अग्नि उत्तरपद वाले दो नाम कांडाग्नि और विभुजाग्नि काशिका में आए हैं। विभुजाग्नि कच्छ प्रदेश का भुज ज्ञात होता है और कांडाग्नि कंडाला बंदरगाह के उत्तर-पूरब में तपता हुआ रेगिस्तान। ये दो नाम क्रमशः कच्छ के छोटे रन्न और बड़े रन्न (इरिण) ज्ञात होते हैं।

केकय (७।३।२)—केकय जनपद वर्तमान झेलम, शाहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम था, जिसमें इस समय खिउड़ा की नमक की पहाड़ी है। केकय जनपद राजाधीन था। वहाँ के निवासी (क्षत्रिय गोत्रापत्य) कैकेय कहलाते थे। भर्गादि गण में भी केकय का पाठ है।

मद्र (४।२।१३१)—मद्र जनपद प्राचीन वाहीक का उत्तरी भाग था। इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी जो आपगा (वर्तमान अयक) नदी पर स्थित है। यह छोटी नदी जम्मू की पहाड़ियों से निकलकर स्यालकोट के पास से होती हुई वर्षा ऋतु में चनाब से मिलती है (कनिंघम, प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २१२)। पतंजलि ने भी वाहीक ग्रामों में शाकल का नाम लिया है (४।२।१६४, वा० १; काशिका ४।२।११७)। पाणिनि ने वाहीक को स्थान-नाम मानकर उसकी व्युत्पत्ति नहीं की, किंतु कात्यायन ने बहिर् शब्द से ईकक् प्रत्यय जोड़कर वाहीक की सिद्धि की है। महाभारत द्रोण-पर्व में बहि और हीक नाम के पिशाचों (यक्षों) को यहाँ का स्थानीय देवता मानकर इस नाम की जो व्युत्पत्ति सुझाई गई है वह कभी लोक में प्रसिद्ध रही होगी। पाणिनि के समय में मद्र जनपद के दो भाग थे—पूर्वमद्र और अपरमद्र (दिशोऽमद्राणाम्, ७।३।१३, ४।२।१०८)। पूर्वमद्र रावी से चनाब तक और पच्छिमी मद्र चनाब से झेलम तक का प्रदेश था।

उशीनर (४।२।११७-११८)—पाणिनि के अनुसार उशीनर वाहीक का जनपद था (उशीनरेषु ये वाहीक ग्रामाः, काशिका)। काशिका ने उशीनर के सुदर्शन और

आव्हजाल नामक शहरों के नाम दिए हैं। पाणिनि ने उशीनर जनपद में उन स्थानों का उल्लेख किया है जिनके अंत में कंथा शब्द आता था, जैसे सौशमिकंथ और आव्हरकंथ। कंथा शक भाषा का शब्द था, जिसका अर्थ था नगर। महाभारत में शिबि को उशीनर का राजा कहा गया है (राजानमौशीनरं शिबिम् वन० १६४।२; द्रोण २८।१)। शिबि की राजधानी शिबिपुर थी जिसकी पहिचान वर्तमान शेरकोट (झंग जिले की एक तहसील) से की जाती है। वहाँ विस्तृत प्राचीन अवशेष हैं। आधुनिक झंग मघियाना एवं रावी और चनाब के बीच का प्राचीन भूभाग उशीनर प्रदेश था। आईन-अकबरी में दिया हुआ उसका नाम 'शूर' शिबिपुर के अधिक निकट है।

'पानं देशे' (८।४।६) के उदाहरण में उशीनर जनपद के भोजन में दूध-दही का विशेष प्रयोग कहा गया है। उशीनर जनपद गायों से भरा-पुरा देश था। उशीनर की अद्भुत गो-समृद्धि का परिचय द्रोणपर्व के इस वर्णन से मिलता है—'मेह की जितनी धाराएँ हैं, आकाश में जितने तारे हैं, गंगा में जितने बालुकाकण हैं, मेरु पर जितने ढोंके हैं, समुद्र में जितने रत्न और जीव हैं, औशीनर शिबि ने यज्ञ में उतनी गायों का दान किया।'[२६]

पाणिनि ने शिबि का नामोल्लेख नहीं किया। ज्ञात होता है पीछे उशीनर के बदले शिबि जनपद का नाम प्रसिद्ध हो गया। भाष्य में शिबि, गांधारि और वसाति के समान जनपद की संज्ञा है (४।२।५२ गांधार्यादिभ्यो वा, वा० २)।

अंबष्ठ—पाणिनि ने ८।३।६७ सूत्र में अंबष्ठ और आंबष्ठ इन दो नामों की अलग अलग सिद्धि की है। पतंजलि के अनुसार अंबष्ठ एक नाम था जो ४।१।१७१ सूत्र में अभिप्रेत है (भाष्य ४।१।१७०)। यह जनपद राजाधीन था और इसके निवासी आंबष्ठ्य कहलाते थे। महाभारत के अनुसार अंबष्ठ कौरवों की ओर से लड़े थे। उनकी गिनती औदीच्यों में की गई है। अंबष्ठों की पहिचान यूनानी लेखकों के 'संबस्तइ' (Sambastai) या 'अबस्तनोइ' से की गई है। ये अत्यंत वीर थे और चनाब नदी के निचले भाग में बसे हुए थे।

२६—यावत्यो वर्षतो धारा यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यः सिकता गांग्यो यावन्मेरोर्महोपलाः॥
उदन्वति च यावन्ति रत्नानि प्राणिनोऽपि च।
तावतीरददद् गावो शिबिरौशीनरोऽध्वरे॥

(द्रोण० प० ५७।३-७)

त्रिगर्त—पाणिनि ने त्रिगर्त देश के आयुधजीवी संघों का उल्लेख किया है। रावी, व्यास और सतलुज, इन तीन नदी-दूनों के बीच का प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था। इसी का पुराना नाम जालंधरायण भी था जिसका राजन्यादिगण (४।२।५३) में उल्लेख हुआ है। अब भी त्रिगर्त काँगड़ा का प्रदेश जालंधर कहलाता है। रावी और व्यास के सँकरे नाके में होकर त्रिगर्त का रास्ता था और आज भी है। गुरुदासपुर-पठानकोट यहीं है, जहाँ से औदुंबर गणराज्य के सिक्के मिले हैं। इस प्रदेश का चालू नाम काँगड़ा हो गया है। यहाँ सदा से छोटी-छोटी रियासतें रही हैं। महाभारत में त्रिगर्त के संसप्तक योद्धा दुर्योधन की ओर से अपनी जान पर खेलकर लड़े थे। पाणिनि ने त्रिगर्त के छः संघ राज्यों का उल्लेख किया है जो सब आयुधजीवी थे (५।३।११६)। काशिका में इनके नाम ये हैं—कौंडोपरथ, दांडकि, क्रौष्टकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि।

अर्जुन की उत्तर-पश्चिमी दिग्विजय के सिलसिले में महाभारतकार ने भी त्रिगर्त और कुलूत (मूल पाठ उलूक) की पहाड़ियों में बसे हुए गणों और रजवाड़ों का उल्लेख किया है (सभापर्व २७।५–१६)। कुलूत (कुल्लू) की राजधानी नगर थी। संभव है कत्र्यादिगण (४।२।६) में पढ़ा हुआ नगर यही हो। कुलूत के उत्तर में चंद्रभागा की दून का प्रदेश प्राचीन चंपा (आधुनिक चंबा) है। गणपाठ में चंपा का नाम मिलता है (४।२।८२) किंतु उसकी प्राचीनता संदिग्ध है। कुलूत के दक्षिण मंडी और सुकेत की रियासतें हैं। यवादिगण (८।२।६) में मंडमती नामक देशवाची शब्द आया है। संभव है उसका संबंध मंडी से हो। सुकेत प्राचीन सुकुट्ट ज्ञात होता है जिसका उल्लेख सभापर्व में कुलिंदों के साथ किया गया है।

सतलुज के दक्षिण टौंस नदी तक का प्रदेश प्राचीन समय में कुलिंद कहलाता था। पाणिनि ने दो गणों में कुलुन का उल्लेख किया है (सिन्ध्वादि ४।३।६३; कच्छादि ४।२।११३)। कुलिंद, कुलु और कुणिंद एक ही नाम के रूपांतर हैं, जिन्हें टालमी ने कुलिंद्रीन (Kulindrine) कहा है।

कलकूट (४।१।१७३)—सभापर्व के अनुसार कालकूट (पाणिनीय कलकूट) कुलिंद प्रदेश में था (२६।३।४)। जब अर्जुन, भीम और कृष्ण जरासंध को जीतने के लिये गुप्त रूप से निकले तो यद्यपि उन्हें कुरु जनपद से पूरब जाना था, तथापि वे पहले पच्छिम कुरुजांगल (वर्तमान रोहतक हिसार) की ओर गए।

वहाँ से उत्तर की ओर कुरुक्षेत्र में पद्मसर[२७] की तरफ मुड़े, और आगे कालकूट जनपद पार करके तराई के साथ सटे हुए मार्ग से सरयू और गंडक नदियाँ पार करते हुए मिथिला में जा पहुँचे; फिर वहाँ से नीचे गंगा पार कर एकदम गोरथगिरि और राजगृह पर जा धमके (सभा० २०।२४-३०)। इस मार्ग में कालकूट ठीक टोंस और यमुना के प्रदेश (देहरादून, कालसी) में पड़ता है। यह यमुना की उपरली धारा का यामुन प्रदेश था। अथर्ववेद में हिमालय पर उत्पन्न होनेवाले यामुन अंजन का उल्लेख है (अथर्व ४।६।१०)। अंजन के कारण यामुन पर्वत का नाम कालकूट होना स्वाभाविक था।

भारद्वाज (कुकणपर्णाद्भारद्वाजे ४।२।१४५)—काशिका ने निश्चित रूप से इस सूत्र में भारद्वाज को देशवाची माना है, गोत्रवाची नहीं। पाणिनि ने भारद्वाजों की शाखा आत्रेय कही है (अश्वादिगण, आत्रेय भारद्वाजे, ४।१।११०)। मार्कंडेय पुराण की जनपद-सूची में भी आत्रेय और भारद्वाज साथ-साथ पढ़े गए हैं (अध्याय ५७)। पारजीटर ने भारद्वाज देश की पहचान गढ़वाल प्रदेश से की है (मार्कंडेय पुराण का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३२०)।

रंकु (४।२।१००)—पाणिनि के अनुसार रंकुदेश का मनुष्य रांकवक और वहाँ की अन्य वस्तुएँ रांकव या रांकवायण कही जाती थीं। काशिका ने रंकु जनपद के रांकव कंबल और रांकवायण बैल का उल्लेख किया है। रंकु जनपद संभवतः अलकनंदा और पिंडर के पूर्व का प्रदेश था जहाँ मल्ला-जुहार और मल्ला-दानपुर की भाषा रंका कहलाती है, (ग्रियर्सन, भारतीय भाषा पर्यवेक्षण, खंड ३, भाग १, पृष्ठ ४७६; मोतीचंद्र, भारतीय वेषभूषा, भारतीय विद्या, भाग १, पृष्ठ ४६)।

कुरु जनपद (४।१।१७२)—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कुरु राष्ट्र, कुरुक्षेत्र और कुरुजांगल—ये तीन इलाके एक दूसरे से सटे हुए थे। थानेश्वर-हस्तिनापुर-हिसार अथवा सरस्वती-यमुना-गंगा के बीच का प्रदेश इन तीन भौगोलिक भागों में बँटा हुआ था। गंगा-यमुना के बीच का लगभग मेरठ कमिश्नरी का इलाका असली कुरुराष्ट्र था। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। पाणिनि ने इसे हास्तिनपुर कहा है (६।२।१०१), जैसा कि महाभारत में भी मिलता है—('नगरात् हास्तिनपुरात्', पूना संस्करण, पर्वसंग्रह पर्व, श्लोक १४६)। पाणिनि ने विशेष रूप

२७—कुरुक्षेत्र से ११२ मील और कौलग्राम से २ मील पश्चिम में अभी तक पद्मसर नामक सरोवर प्रसिद्ध तीर्थ है।

से 'कुरु गार्हपतम्' रूप की सिद्धि की है (६।२।४२)। इस विशेष शब्द का अर्थ कुरुजनपद का वह धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण था जिसके अनुसार गृहस्थ-जीवन में रहते हुए लोग सदाचार और धर्म का पूरा पालन करते थे। इस दार्शनिक दृष्टिकोण का परिचय कुरुधम्म जातक (जा० ३।२७६) के शीलधर्म में और गीता के कर्मप्रधान नीति-धर्म में प्राप्त होता है, जो दोनों कुरु जनपद के साथ संबंधित हैं। जातक में इसे ही कुरुवत्त धम्म कहा गया है।

साल्व (४।१।१७३)—पाणिनि ने अष्टाध्यायी में साल्व (४।२।१३५), साल्वेय (४।१।१६९) और साल्वावयव (४।१।१७३)—इन तीनों को अलग अलग जनपद कहा है, जो राजाधीन थे। इनमें साल्व मूल राज्य था। साल्वेय साल्वों की कोई शाखा थी। साल्वेय का ही दूसरा नाम साल्वपुत्र था। साल्वावयव इधर-उधर छिटके हुए उन छोटे-मोटे रजवाड़ों का समूह था जिनकी स्थापना साल्वों में ही कुछ लोगों ने छिटफुट रूप से कर ली थी। ये राज्य पंजाब के मध्य भाग और उत्तर-पूर्व में बिखरे हुए थे और भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ सटे हुए न थे।

साल्व जनपद कहाँ था, इसकी ठीक पहचान प्राचीन भारतीय भूगोल का एक असूझ पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। गोपथ ब्राह्मण (१।२।९) में साल्व और मत्स्य—इन दो जनपदों का जुड़वाँ उल्लेख है। महाभारत में भी साल्व, माद्रेय और जांगल—इनका एक साथ नाम लिया गया है (भीष्मपर्व १०।३) जिससे इतना संकेत अवश्य मिलता है कि साल्वों की स्थिति उत्तरी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब में कहीं थी। ऊपर के पाँच नामों में मत्स्य का ठिकाना एकदम पक्का है। उसकी राजधानी विराट थी जो जयपुर में वर्तमान बैराट स्थान है। जांगल से तात्पर्य कुरुजांगल से था। जिसके अंतर्गत दक्षिण-पूर्वी पंजाब में हाँसी-हिसार-सिरसा का बड़ा इलाका था। मत्स्य और जांगल इन दो जनपदों की भूमि को यदि छोड़ दें तो साल्व की पहचान के लिये अलवर से उत्तरी बीकानेर तक का फैला हुआ प्रदेश बच रहता है। वस्तुतः यही प्रदेश प्राचीन साल्व ज्ञात होता है। इसी का वह भाग जो साल्वेय या साल्वपुत्र कहलाता था, अलवर के आसपास होना चाहिए। संभवतः अलवर में उनके नाम का कुछ अंश सुरक्षित रह गया है। महाभारत से भी ज्ञात होता है कि साल्वेयक और मत्स्य दोनों पड़ोसी थे, जिनकी सेनाओं ने त्रिगर्त के राजा सुशर्मा से एक साथ मिलकर लोहा लिया था (विराटपर्व, ३०।२)। उद्योगपर्व में पांडवों द्वारा जिनके पास दूत भेजना निश्चित किया गया वे साल्वपुत्र (उद्योगपर्व, ४।२४) और साल्वेयक एक ही हैं।

साल्व कोई अत्यंत प्राचीन जाति थी। उसका प्राचीनतम इतिहास अंधकारमय है। महाभारत की अनुश्रुति में साल्वों के राजा शाल्व की राजधानी सौमनगरी के निर्माण में स्थापत्य और वास्तु का अद्भुत वर्णन मिलता है। सोभ-नगर का संबंध माया से समझा जाता है। कुछ ऐसा आभास होता है कि इनका मूल संबंध ईरान से था और वहाँ से दक्षिणी बलूचिस्तान और सिंध के मार्ग से ये लोग इस देश में आए। वहाँ इनके नाम पर सिंध बलूचिस्तान की सीमा पर स्थित पर्वत का नाम साल्वका गिरि हुआ होगा। उसी का वर्तमान रूप हाला पर्वत है। सिंध प्रदेश में सिंधु नद के तटवर्ती मार्ग से उत्तर की ओर बढ़ते हुए राजस्थान में सरस्वती के किनारे आगे बढ़कर अंत में उत्तरी बीकानेर में साल्व लोग बस गए। वहाँ से उनके अभियान पूर्व में यमुना तक और पंजाब में पठान-कोट-काँगड़ा तक होते रहे। यमुना के अभियान की अनुश्रुति एक प्राचीन गाथा में बची रह गई है—

> यौगन्धरिरेव नो राजा इति साल्वीरवादिषुः।
> विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव ॥[२८]

'यमुना के किनारे बैठी साल्वी स्त्रियाँ चर्खा चलाती हुई कहती थीं कि हमारा राजा यौगंधरि है।'

यौगंधरि साल्वावयवों में से एक राज्य था। जिन दूसरे साल्वावयवों का उल्लेख है वे पंजाब में त्रिगर्त तक अपनी टुकड़ियों से भूमि के खंड चाँपते हुए बस गए थे। मूल साल्व जनपद से दूर हो जाने पर भी राजनैतिक दृष्टि से वे अपने आपको साल्वों का ही एक अंश मानते थे। इसी-जैसी व्यवस्था के लिये लोक में साल्वावयव नाम पाणिनिकाल में चलित हो गया था।

साल्वावयव—काशिका के अनुसार साल्वावयव राजतंत्र के अंतर्गत छः रजवाड़े थे—(१) उदुंबर, (२) तिलखल, (३) मद्रकार, (४) युगंधर, (५) भूलिंग, और (६) शरदंड। पतंजलि के भाष्य (४।१।१७०) से साल्वावयवों के तीन नाम इस सूची से पृथक् मिलते हैं—अजमीढ, अजक्रंद, बोध। इन नामों की पहचान क्रमशः इस प्रकार है—

२८—शिलुस्की (Przyluski), 'पंजाब की एक प्राचीन जाति—साल्व', जूर्नल आशियातीक, १९२६, पृ० ३११–३५४ (पृ० ३१४)।

उदुंबर—उदुंबरों का उल्लेख पाणिनि के राजन्यादि गण (४।३।५३) में आया है। उदुंबरों के पुराने सिक्के काँगड़ा (प्राचीन त्रिगर्त) देश में व्यास और रावी नदियों के बीच में पाए गए हैं। काँगड़ा के मुहारे के पठानकोट नगर में भी उदुंबर मुद्राएँ बहुतायत से मिली हैं (ऐलन, प्राचीन भारत की मुद्राएँ, प्रस्तावना, पृ० ८७)। इस पुरातत्त्वगत प्रमाण से उदुंबरों का प्रदेश निश्चित हो जाता है। व्यास के उत्तर में और रावी के दक्षिण की सँकरी घाटी में होकर त्रिगर्त के प्रवेश-द्वार (वर्तमान गुरदासपुर) में उदुंबरों का राज्य था। पतंजलि ने उदुंबरावती नदी का उल्लेख किया है (४।२।७१)। वह इसी प्रदेश की कोई छोटी नदी होनी चाहिए जिसके तट पर उदुंबरों की राजधानी रही होगी।

तिलखल—उदुंबर भूभाग के मानचित्र पर दृष्टि डालने से व्यास नदी के दक्षिण के प्रदेश (जिला होशियारपुर) में, जहाँ आज भी तिलों की खेती का प्रधान क्षेत्र है, तिलखल राज्य का स्थान ज्ञात होता है। व्याकरण का तिलखल (तिलों के खलिहानों का क्षेत्र) और महाभारत का तिलभार[२९] दोनों एक ही प्रतीत होते हैं।

मद्रकार—प्रो० शिलुस्की का सुझाव है कि मद्रकार में 'कार' शब्द प्राचीन ईरानी भाषा का है जिसका अर्थ 'सेना' था। मद्रकार का अर्थ हुआ मद्रों के सैनिकों द्वारा प्रतिष्ठापित राज्य। मद्रों और साल्वों का घनिष्ठ संबंध मद्र राजकुमारी सावित्री और साल्व राजकुमार सत्यवान् के विवाह द्वारा संपन्न हुआ था (वनपर्व २७६।१५)। ज्ञात होता है इस विवाह के फलस्वरूप तीन छोटे राज्य अस्तित्व में आए—(१) सावित्रीपुत्रकाः, (२) मद्रकाराः, (३) शाल्वसेनयः। सावित्रीपुत्रकों का उल्लेख महाभारत (वनपर्व २८३।१२; कर्णपर्व ४।४७) और अष्टाध्यायी (दामन्यादि सूत्र, गणपाठ ५।३।११६) दोनों में आया है। सावित्री और सत्यवान् के पुत्र-पौत्रों के जो कुटुंब फैले उनका यह नाम था। 'पुत्र' शब्द यहाँ 'ख्यात' या 'कबीले' का वाचक है, जैसा पंजाब के अरोड़े खत्रियों में केहरपोत्रे, चननपोत्रे आदि जाति-नामों में अभी तक देखा जाता है, अथवा प्राचीन शाक्यपुत्र आदि नामों में था। मद्रकार जैसे मद्रों की सेना का छोटा राज्य था, वैसे ही शाल्वसेनयः (साल्वों की सेना, भीष्म पर्व १०।५९) साल्वों के

२९—महाभारत, साधारण संस्करण, भीष्मपर्व १०।५१; पूना संस्करण में तिलकाः और तिलभाराः, ये दोनों पाठ हैं।

सैनिकों का बसाया हुआ राज्य होना चाहिए। सावित्री और सत्यवान् विवाह के समय राज्य से निर्वासित थे। विवाहोपरांत मद्र और साल्व दोनों ने अपनी सैनिक टुकड़ियाँ सहायतार्थ उन्हें अर्पित कीं। यही दो छोटे साल्वावयवों का मूलारंभ विदित होता है।

अष्टाध्यायी में मद्र और भद्र दोनों पर्यायवाची शब्द हैं (२।३।७३; ४।४।६७)। मद्रकार का ही दूसरा नाम भद्रकार ज्ञात होता है। संभव है घग्घर के तट पर बीकानेर के उत्तर-पूर्वी कोने में स्थित भद्र मद्रकारों की प्राचीन राजधानी रही हो।

युगंधर—यमुना के तट पर चर्खा कातती हुई साल्वी स्त्रियों के कथनानुसार उनका राजा यौगंधरि था। इससे सूचित होता है कि युगंधर कहीं यमुना का तटवर्ती था। युगंधर राज्य संभवतः अंबाला जिले में सरस्वती और यमुना के बीच में स्थित था। वहीं जगाधरी उस प्राचीन नाम का सूचक हो सकता है।

भूलिंग—यूनानी भूगोल-लेखक टालमी ने लिखा है कि अरावली के उत्तर-पश्चिम में बोलिंगाई (Bolingae) जाति रहती थी। इनकी पहचान भूलिंगों से हो सकती है।

शरदंड—वाल्मीकि रामायण (अयोध्या कांड ६८।१६) में लिखा है कि अयोध्या से केकय के मार्ग पर जाते हुए कहीं शरदंडा नदी पार करनी पड़ती थी। उसी शरदंडा के तट पर सन्निविष्ट होने के कारण साल्वों के एक अवयव का नाम शरदंड पड़ा होगा। शरदंडा नदी की निश्चित पहचान नहीं हुई। संभव है यह शरावती का ही दूसरा नाम हो, क्योंकि दोनों नामों में शर पूर्वपद आता है जो सूचित करता है कि इनके किनारे सरपत का घना जंगल था। शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य देशों के बीच की सीमा मानी गई थी। इस आधार पर अनुमान होता है कि शरावती वही कुरुक्षेत्र की नदी थी जिसे दृषद्वती भी कहा गया है। आजकल इसका नाम चितांग है।

पतंजलि ने साल्वों के अवयव-राज्यों का उल्लेख करते हुए अजमीढ, अजक्रंद और बोध का नाम लिया है। पहले दो नामों का 'अज' पूर्वपद अज नामक असुर का संकेत करता है। असुर अजक एक स्थानीय देवता था। साल्व लोग अपने राजा साल्व को भी उसी का अवतार मानते थे (आदिपर्व ६१।१७, सामान्य संस्करण)।

बोधों का इलाका भीष्मपर्व के अनुसार (१०।३७-३८) कुलिंग, साल्व और माद्रेयों के सान्निध्य में था। पतंजलि ने एक जगह उदुंबर और बोध का साथ साथ उल्लेख करते हुए उनके पारस्परिक संबंध का संकेत किया है।

पाणिनि के अनुसार साल्व जनपद की तीन विशेषताएँ थीं—एक तो यहाँ के पैदल सैनिक प्रसिद्ध थे जो साल्वपदाति कहलाते थे (अपदातौ साल्वात्, ४।१।१३५); दूसरे, साल्व जनपद के बैल ऐसे नामी थे कि उनके लिये भाषा में एक विशेष शब्द (साल्वक गौ) ही चल गया था; तीसरे, इस जनपद में लप्सी खाने का रिवाज था जो साल्विकायवागू कहलाती थी। जयपुर-बीकानेर के लोगों में आज भी लप्सी प्रिय भोजन है जो राबड़ी कहलाती है।

प्रत्यग्रथ (४।१।१७३)—महाभारत में यह नाम नहीं मिलता और पाणिनि में पंचाल नाम नहीं है। मध्यकालीन कोशों के अनुसार पंचाल का ही दूसरा नाम प्रत्यग्रथ था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी (वैजयंती, पृष्ठ २१४; हेमचंद्र, अभिधान चिंतामणि ४।२६, प्रत्यग्रथास्त्वहिछत्रा साल्वास्तु कारकुक्षियाः)। प्रत्यग्रथ जनपद में बहनेवाली नदी रथस्था (वर्तमान रामगंगा) थी (६।१।१५७) जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

अजाद (४।१।१७१)—इस जनपद का नाम केवल अष्टाध्यायी में मिलता है। नाम से ज्ञात होता है कि यह प्रदेश बकरियों के लिये प्रसिद्ध रहा होगा। इटावा का प्रदेश आज तक यमुनापारी बकरियों की नसल के लिये प्रसिद्ध है। संभव है यही अजाद हो।

कोसल (४।१।१७१)—यह राजाधीन जनपद बुद्धकालीन षोडश महाजनपदों में गिना जाता था। पाणिनि ने उससे संबंधित सरयू और इक्ष्वाकु का भी उल्लेख किया है (६।४।१७४)।

काशि (४।१।११६)—पाणिनि ने स्थान-नामों में काशि का उल्लेख किया है। काशि जनपद का नाम था और वाराणसी उसकी राजधानी थी। अष्टाध्यायी से यह नहीं ज्ञात होता कि कोसल की भाँति काशि भी स्वतंत्र जनपद था। मगध और कोसल में से किसी एक के साथ काशि जनपद बिंबिसार और अजातशत्रु के समय में मिला हुआ था। पाणिनि के समय उसका स्वतंत्र राजाधीन अस्तित्व नहीं ज्ञात होता।

वृजि (४।२।१३१)—बिहार प्रांत में गंगा के उत्तर का प्रदेश वृजि कहलाता था, जहाँ विदेह लिच्छवियों का राज्य था।

मगध (४।१।१७०)—गंगा के दक्षिण का प्रदेश मगध जनपद था जहाँ राजतंत्र शासन था।

कलिंग (४।१।१७०)—कलिंग पाणिनि के समय में जनपद राज्य था, किंतु सोलह महाजनपदों की सूची में उसकी गिनती नहीं है।

सूरमस (४।१।१७०)—यह नाम केवल अष्टाध्यायी में आया है। ज्ञात होता है कि असम प्रांत (वर्तमान आसाम) में प्रसिद्ध सूरमा नदी की दून और पर्वत-उपत्यका का प्राचीन नाम सूरमस था।

अवंति (४।१।१७६)—यह मध्यभारत का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी (गणपाठ ४।२।८२; ४।२।१२७)।

कुंति (४।१।१७६)—भाष्य के अनुसार सूत्र ४।१।१७१ के इकारांत एकराज जनपदों में कुंति और अवंति की भी गणना थी। महाभारत के अनुसार कुंति अवंति जनपद का पड़ोसी था। उनके राज्य में से अश्व नदी बहती थी जो संभवतः चंबल की शाखा कुमारी नदी है (वनपर्व ३०८।७; बृहत्संहिता १०।१५)। सहदेव ने अपनी दक्षिण की दिग्विजय में कुंति देश को भी जीता था। यमुना और चंबल के काँठे में प्राचीन कुंति राष्ट्र (वर्तमान ग्वालियर राज्य) था जो अब भी कोंतवार कहलाता है। पाणिनि ने कुंति-सुराष्ट्र, चिंति-सुराष्ट्र और अवंति-अश्मक—इन पाँच जनपदों के नाम लोकप्रसिद्ध भौगोलिक जोड़ों के रूप में लिखे हैं जो मध्य-भारत और पच्छिमी भारत में थे (कार्तकौजपादिगण ६।२।३७)। ये पाँचों जनपद विस्तार की दृष्टि से काफी बड़े थे। अभी तक चंबल से टोंस तक का प्रदेश बुंदेलखंड की भौगोलिक इकाई के रूप में प्रसिद्ध रहा है। चंबल के पश्चिम में किसी समय मही काँठे से आगे तक सुराष्ट्र की सीमा लगती थी।

उन जनपदीय नामों के जोड़े जो भौगोलिक दृष्टि से पास-पास न हों, किसी विशेष कारण के बिना भाषा में नहीं बनते। कुंति और सुराष्ट्र जनपद एक दूसरे से दूर होते हुए भी क्यों एक साथ बोले जाने लगे? विचार करने पर कुंति-सुराष्ट्र और चिंति-सुराष्ट्र—इस गठबंधन का कारण राजनैतिक ज्ञात होता है। कुंति या कोंतवार जनपद का अधिपति महाभारत युग में दंतवक्र था और सुराष्ट्र में कृष्ण-प्रमुख यादवों का राज्य था। कृष्ण-दंतवक्र युद्ध के बाद कुंति जनपद भी सुराष्ट्र के राजतंत्र के साथ बँध गया। तभी कृष्ण के अनुगत नारायण गोपाल इस प्रदेश में बसे जिससे आज भी यह इलाका ग्वालियर (गोपाल गिरि) कहलाता है। इसी घटना के बाद लोकभाषा में जनपद-नामों यह का जोड़ा कुंति-सुराष्ट्र प्रसिद्ध हुआ।

इसी प्रकार चिति या चेदि के शिशुपाल की भी कृष्ण से भिड़ंत हुई थी और उसके अनंतर ही चिति-सुराष्ट्र संज्ञा चालू हुई। पाणिनि के समय तक भाषा में कुंति-सुराष्ट्र और चिति-सुराष्ट्र, ये दो प्राचीन भौगोलिक सूत्र लोकभाषा के अंग थे।

अश्मक (४।१।१७३)—अश्मक जनपद की राजधानी अन्य ग्रंथों के अनुसार प्रतिष्ठान (गोदावरी के किनारे आधुनिक पैठण) थी। इससे गोदावरी के दक्षिण सह्याद्रि पर्वत-शृंखला तक अश्मक जनपद का विस्तार ज्ञात होता है।

मौरिकि—पाणिनि ने सूत्र ४।२।५४ में मौरिकि लोगों के देश मौरिकिभक्त का नामोल्लेख किया है।[३०] वैजयंती कोश (पृष्ठ ३७) के अनुसार बंगाल का समतट (दक्षिणी बंगाल) प्रदेश मौरिक कहलाता था। समुद्रगुप्त के प्रयाग के स्तंभलेख में भी समतट नाम आया है।

इस प्रकार उत्तर में कंबोज, दक्षिण में अश्मक, पश्चिम में सौवीर और पूर्व में सूरमस—इन चार खूंटों के बीच का भूप्रदेश पाणिनि की भौगोलिक परिधि के अंतर्गत था। इतना स्पष्ट है कि पाणिनि का परिचय प्राच्य की अपेक्षा उदीच्य के भूगोल से अधिक घनिष्ठ था।

सूत्रों के अतिरिक्त कुछ और भी जनपदों के नाम गणपाठ में आए हैं। जैसे—

बर्बर (तक्षशिलादिगण, ४।३।९३)—सिंधु-सागर संगम के समीप, जहाँ बर्बरिक नामक समुद्रपत्तन था।

कश्मीर (कच्छादि गण ४।२।१३३; सिन्ध्वादिगण ४।३।९३)।

उरश (सिन्ध्वादिगण ४।३।९३; अर्वाचीन हजारा)—सिंधु और कृष्णगंगा-झेलम के बीच का प्रदेश जो पश्चिमी गंधार और अभिसार (वर्तमान पुंछ रजौरी) के मध्य में है।

दरद् (सिंध्वादिगण ४।३।९३)—उत्तर-पश्चिमी कश्मीर का गिलगित-हुंजा प्रदेश।

गब्दिका (सिंध्वादिगण ४।३।९३)—पतंजलि ने गब्दिका को तत्कालीन आर्यावर्त के बाहर रक्खा है। धौलाधार से ऊपर चंबा राज्य में गद्दियों का गद्देरन प्रदेश प्राचीन गब्दिका ज्ञात होता है।

३०—मौरिकाः प्राग्देशावस्थिते नीवृद् समतटाह्वये।
(नानार्थार्णव संक्षेप भा० २, श्लो० १३१९)

किष्किन्धा (सिंध्वादिगण ४।३।९३)—यह गोरखपुर के पास का प्राचीन खुखुंदो था। पतंजलि ने 'किष्किंध गन्दिकम्' दोनों को आर्यावर्त से बाहर रक्खा है।

पटच्चर (पलद्यादि गण ४।२।११०)—यह संभवतः सरस्वती के दक्षिण का प्रदेश था (वर्तमान पाटोदी) जहाँ लुटेरे आभीरगणों की बस्ती थी।

यकृल्लोम (पलद्यादिगण ४।२।११०)—शूरसेन जनपद के दक्षिण जालौन, उरई, कौंच और कालपी का प्रदेश। विराट पर्व में लिखा है कि पांडव लोग दशार्ण के उत्तर, पंचाल के दक्षिण (यमुनातटस्थ इटावा के नीचे)[31] यकृल्लोम और शूरसेन के बीच में होते हुए मत्स्य जनपद के विराटनगर को गए।[32]

सर्वसेन (शंडिकादिगण ४।३।९२)—६।२।३३ और ८।१।५ सूत्रों पर काशिका के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि सर्वसेन एक सूखा प्रदेश था (परि परि सर्वसेनेभ्यो वृष्टो देवः)।

नगर और ग्राम

जनपद की भौगोलिक इकाई के अंतर्गत मनुष्यों के रहने के स्थान नगर और ग्राम कहलाते थे। इनसे भी छोटे स्थानों को घोष (६।२।८५) और खेड़ों को खेट (२।२।१२६) कहा जाता था।

पाणिनि ने कहीं तो ग्राम और नगर में भेद माना है—जैसे प्राचां ग्राम-नगराणाम् (७।३।१४) सूत्र में, और कहीं ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण किया है—जैसे वाहीक ग्राम (४।२।११७), उदीच्यग्राम (४।२।१०९) सूत्रों में। पतंजलि ने कहा है कि कितनी जनसंख्या होने से ग्राम और कितनी जनसंख्या से नगर कहलाते हैं, इस विषय में लोक का प्रमाण मानना चाहिए। वैयाकरण के लिये बाल की खाल निकालना उचित नहीं (ननु च भो य एव ग्रामस्तन्नगरम्। कथं ज्ञायते ? लोकतः। तत्रातिनिर्बन्धो न लाभः, ७।३।१४)। वस्तुतः स्थिति यह थी कि पूर्वी भारत में गाँव बहुत छोटे और नगर बड़े जन-सन्निवेश होते थे, उनका जनसंख्या कृत भेद सधा था, इसी से पाणिनि ने भी पूरब में ग्राम और नगर को

३१—कालिंदीमभितो ययुः। (विराट ५।१)

३२—उत्तरेण दशार्णास्ते पंचालान्दक्षिणेन च।
अन्तरेण यकृल्लोमाञ्शूरसेनांश्च पांडवाः ॥ (विराट ५।४)

पृथक् माना। किंतु वाहीक या पंजाब में ग्राम बहुत समृद्ध जनकेंद्र थे। यूनानी भूगोल-लेखकों ने लिखा है कि उत्तर-पश्चिम प्रदेश और पंजाब में ५०० ऐसे "ग्राम" थे जिनकी आबादी पाँच से दस सहस्र के लगभग थी। स्वयं पाणिनि की गणसूची से इस बड़ी ग्राम-संख्या का समर्थन होता है। अतएव वाहीक देश में ग्राम और नगर का भेद बोलचाल में न रह गया था, वहाँ दस-दस सहस्र के नगर भी "ग्राम" ही कहलाते थे। यही वस्तु-स्थिति वाहीकग्राम और उदीच्यग्राम शब्दों से प्रकट होती है जहाँ ग्राम शब्द नगर और गाँव दोनों का बोध कराता है।

अवश्य ही पाणिनि ने इस प्रदेश की भौगोलिक छानबीन बड़े विस्तार से की थी। इधर-उधर से कुछ मनचाहा बटोर लेने की आकस्मिक शैली से पाणिनीय सामग्री का जन्म नहीं माना जा सकता। उसके पीछे भौगोलिक सामग्री का पुष्कल ब्यौरेवार संग्रह अवश्य रहा होगा। यही स्वाभाविक पद्धति पाणिनीय सामग्री की ठीक-ठीक व्याख्या करती है। इन स्थानों (गाँवों और नगरों) में रहनेवालों के ब्याह-बिरादरी, जात-पाँत और व्यापार-लेनदेन के संबंध दूर दूर तक फैले हुए थे। वे लोग जीवन के विविध क्षेत्रों में एक दूसरे के साथ खूब गुँथे हुए थे। स्थान-नामों के आधार पर बने हुए उनके नामों की आवश्यकता भाषा में नित्य पड़ती थी। स्थान-नामों से बने हुए चातुरर्थिक शब्द नित्यप्रति की भाषा के आवश्यक अंग बन गए थे। पाणिनि ने उसी शब्द-सामग्री का व्यवस्थित सूचीबद्ध संकलन किया था, अन्यथा तद्धित का यह चातुरर्थिक महाप्रकरण बन ही न पाता। उस समय के स्थान-नाम वर्तमान लोकभाषा से बिल्कुल तो मिट न गए होंगे, वे परिवर्तित रूपों में आजकल स्थान-नामों में बचे पड़े होने चाहिएँ। इसी आधार पर पाणिनीय सामग्री की पहचान आगे बढ़ाई जा सकती है। आचार्य के लिये छोटा या बड़ा कोई भी जनपद व्याकरण की दृष्टि से छोड़ने योग्य न था। यही बात जनपदों में बसी हुई जाति और उपजातियों के विषय में भी ठीक है। वे जातियाँ और उनके अल्ल आज भी लोक में और भाषा में हिले-मिले पाए जायँगे। जातियों, उनके नामों और उनके निकास (अभिजन) और निवास की अनुश्रुति बड़ी टिकाऊ होती है।

स्थान-नामों के अंत में आनेवाले शब्द या उत्तरपद

अष्टाध्यायी से प्राप्त निम्नलिखित सूची भारतीय स्थान-नामों के अध्ययन में सहायक हो सकती है—

(१) नगर (४।२।१४२)—प्राचीन स्थान-नामों के अंत में जुड़नेवाला यह महत्त्वपूर्ण उत्तरपद था जो मध्यकाल और वर्तमान समय में भी प्रयुक्त होता है।

पाणिनि के अनुसार प्राच्य और उदीच्य दोनों भागों में नगर का प्रयोग होता था (अमहन्नवं नगरेऽनुदीचां (६।२।८९) सूत्र में महानगर और नवनगर इन दो प्राच्य भारतीय नगरों का नाम मिलता है। कास्तीर और अजस्तुंद नाम के नगरों का भी सूत्र में उल्लेख है (६।१।१५१)।

(२) पुर (४।२।१२२)—नगर की भाँति यह भी बहुव्यापी उत्तरपद था। पाणिनि ने सूत्र ६।२।१०१ में हास्तिनपुर, फलकपुर और मार्देयपुर, तथा सूत्र ६।२।१०० में अरिष्टपुर और गौड़पुर का उल्लेख किया है। हास्तिनपुर कुरु जनपद की प्रसिद्ध राजधानी था। फलकपुर संभवतः फिल्लौर (जि० जालंधर) और मार्देयपुर मंडावर (जि० बिजनौर) था। अरिष्टपुर शिवि जनपद में शिवि क्षत्रियों की राजधानी था (अरिट्ठसाह्व नगर, चरियापिटक १।८।१ शिवि जातक ६।४०१ १२)। गौड़पुर गौड़ बंगाल में था जहाँ के महानगर और नवनगर का पाणिनि ने उल्लेख किया है।

(३) ग्राम (४।२।१४२)।

(४) खेट (६।२।१२६)—हिंदी आदि भाषाओं का 'खेड़ा' इसी से निकला है। मध्यदेश से लेकर पश्चिम में गुजरात तक यह उत्तरपद प्रयुक्त होता है। पाणिनि के अनुसार कुत्सित नगर खेट कहे जाते थे।

(५) घोष (६।२।८५)—अहीर ग्वालों का छोटा गाँव घोष कहलाता था।

(६–९) कूल, सूद, स्थल, कर्ष (कूलसूदस्थलकर्षाः संज्ञायाम्, ६।२।१२९)—काशिका के अनुसार ये चार उत्तरपद स्थानवाची नामों में आते थे। कपिस्थल (करनाल जिले में कैथल) अभी तक अपने पुराने नाम से प्रसिद्ध है। काबुल (कुभाकूल) और गोमल (गोमतीकूल) नामों में कूल उत्तरपद ज्ञात होता है। स्थान-नामवाची शब्दों के अंत में सूद का उल्लेख कल्हण ने किया है जहाँ दामोदर के बसाए स्थान को दामोदर सूद कहा गया है (राजतरंगिणी १।१६७; और भी, सूदे दामोदरीये, १।१५७)।

(१०-११) तीर और रूप्य (४।२।१०६)—काशिका में काकतीर, पल्वलतीर और वृकरूप्य, शिवरूप्य नाम मिलते हैं। पाणिनि ने स्वयं कास्तीर एक नगर का नाम दिया है (६।१।१५५), जो पतंजलि के अनुसार बाहीक ग्राम था (४।२।१०४, वा० ३)। पतंजलि ने कस्तीर, वायसतीर, चाणारूप्य और माणिरूप्य नाम दिए हैं (४।२।१०४ वा० २)।

(१२) कच्छ (४।२।१२६)—कच्छांत नामों का व्यवहार समुद्रतट के रेवा-काँठे से सिंध के नदीमुख तक प्रचलित था। काशिका में दारुकच्छ और पिप्पलीकच्छ उदाहरण मिलते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दारुकच्छ काठियावाड़ और पिप्पलीकच्छ मही-रेवा का काँठा था। ये खंभात की खाड़ी के क्रमशः दाएँ बाएँ के प्रदेश थे।

(१३) अग्नि (४।२।१२६)—जैसा कि नाम से प्रकट है, जलता हुआ ऊसर (संस्कृत ईरिण) प्रदेश अग्नि कहलाता था। काशिका में विभुजाग्नि और कांडाग्नि—ये दो नाम मिलते हैं जो क्रमशः कच्छभुज के उत्तर-पश्चिम के बड़े रन और उत्तर-पूर्व के छोटे रन (जहाँ कांडला है) के नाम थे।

(१४) वक्त्र (४।२।१२६)—वक्त्रांत नामों के दो उदाहरण काशिका में दिए हैं—सिंधुवक्त्र और इंद्रवक्त्र। भारतवर्ष के मानचित्र पर ये दोनों प्रदेश स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। सिंध प्रांत का प्रदेश सिंधुवक्त्र और बलोचिस्तान का प्रदेश इंद्रवक्त्र कहलाता था। सिंधुवक्त्र प्रदेश में खेती सिंध नदी पर निर्भर थी और इंद्रवक्त्र में वर्षा पर। पहला प्रदेश नदीमातृक था और दूसरा देवमातृक। सभापर्व में इन दोनों प्रदेशों का स्पष्ट वर्णन एक साथ आया है—

> इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः।
> समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः॥
> ते वैरामाः पारदाश्च आभीरा कितवैः सह।
> विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च॥ (५१।११-१२)

अर्थात् समुद्र की कोख में स्थित उस प्रदेश के लोग जहाँ नदीमुख से खेती होती थी, विविध भेंटें लेकर युधिष्ठिर के यहाँ उपस्थित हुए। यह सिंध का वर्णन है। उन्हीं के साथ सिंधुपार के लोग भी आए, जहाँ इंद्रकृष्ट अर्थात् मेह से खेती होती थी। सिंधुपार के लोगों में वैराम, पारद, आभीर और कितव थे। पूना संस्करण में आभीर के स्थान पर 'वंग' पाठ है जो मकरान के समीप की लंग जाति ज्ञात होती है।[३३] वैरामों को यूनानी लेखकों ने रंबक कहा है।[३४] पारद (यूनानी

३३—ह्युआन चुआङ् ने इसका नाम 'लङ् किअलो' लिखा है, जिसकी पहचान कनिंघम ने आधुनिक लाकोरिया या लकूंर नामक स्थान से की है। ज्ञात होता है कि आभीराः और वंगाश्च, इन दोनों की जगह प्राचीन पाठ लांगराः था। (कनिंघम, प्राचीन भूगोल, पृष्ठ, ३५५-५६)

३४—अर्रियन, रंबकीआ (Rambakia)। कनिंघम, (प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ३५४) ने इसकी पहचान रामबाग से की है।

पारदीनी) हिंगुल प्रदेश के लोग थे और किलव मकरान की केज जाति थी। इस प्रकार इंद्रवक्त्र प्रदेश की पहचान बलोचिस्तान के सूखे पथरीले रेगिस्तानी भागों से निश्चित होती है जो आज भी अपनी कृषि के लिये वृष्टि के आसरे रहते हैं।

(१५) गर्त (४।२।१२६)—गर्त उत्तरपद वाले नाम का उदाहरण त्रिगर्त प्रसिद्ध है। काशिका में इस सूत्र पर चक्रगर्त और बहुगर्त, इन भौगोलिक नामों का जोड़ा उदाहरण रूप में दिया है। ये दोनों पुराने नाम जान पड़ते हैं। बहुगर्त संभवतः साबरमती (प्राचीन श्वभ्रमती) के काँठे का नाम था, जिसके नाम का श्वभ्र शब्द गड्ढे का पर्यायवाची है। चक्रगर्त संभवतः प्रभासक्षेत्र में स्थित चक्रतीर्थ की संज्ञा थी। गर्तांत नामों में 'गर्तोत्तर पदाच्छः' (४।२।१३७) सूत्र पर काशिका में वृकगर्त और शृगालगर्त एवं भाष्य में (४।२।१३०) श्वविद्गर्त नाम भी आए हैं।

(१६) पलद (४।२।१४२)—दाक्षिपलद और माहिकिपलद इसके उदाहरण हैं (काशिका)। अथर्ववेद के अनुसार पलद का अर्थ फूस या पयार होता था (अथर्व ६।३।५, ७१, पलदान्वसाना)। इससे ज्ञात होता है कि सरपत के मूँडों के लिये पलद शब्द लोक में प्रचलित था और जो गाँव उनके पास बसाए जाते थे उनके नाम में पलद उत्तरपद का प्रयोग होता था।

(१७) ह्रद (४।२।१४२)—पानी की नीची दह के पास बसे हुए गाँवों के नामों में ह्रद जुड़ता था, जैसे दाक्षिह्रद।

(१८) वह (४।२।१२२)—वहांत नामों का पाणिनीय उदाहरण 'पीलुवह' है (इकोवहेऽपीलोः, ६।३।१२१)। फल्गुनीवह, ऋषीवह, पिंडवह, मुनिवह, दारुवह—ये अन्य नाम काशिका में हैं। फल्गुनीवह आधुनिक फगवाड़े (पंजाब) का नाम प्रतीत होता है।

(१९) प्रस्थ (४।२।१२२; ४।२।११०)—प्रस्थांत नाम कुरुक्षेत्र और कुरुजनपद के प्रदेश की भौगोलिक विशेषता थे। वहाँ प्रस्थ की जगह पत स्थान-नामों के अंत में पाया जाता है, जैसे पानीपत, बाघपत, सोनीपत, मारीपत, तिलपत। ज्ञात होता है कि प्रस्थ नाम मूल में हिमालय के प्रदेश में थे, जहाँ से आर्यों की किसी शाखा के साथ ये इस प्रदेश में लाए गए। पाणिनि के सूत्रों में कर्कीप्रस्थ और मालाप्रस्थ नाम आए हैं (६।२।८७, ६।२।८८)। कर्क्यादि गण में

मघीप्रस्थ, मकरीप्रस्थ, कर्कंधुप्रस्थ, शमीप्रस्थ, करीरप्रस्थ, कटुकप्रस्थ, कुरलप्रस्थ, बदरप्रस्थ और मालादिगण में शालाप्रस्थ, शोणाप्रस्थ (सोनपत), द्राक्षाप्रस्थ, क्षौमाप्रस्थ, क्षामाप्रस्थ, कांचीप्रस्थ, कामप्रस्थ नाम और हैं।

(२०) अर्म (६।२।६०-६१)—विदित होता है किसी समय अर्मांत नामों का विशेष प्रचार था। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार ऊजड़ गाँव को अर्म कहते थे (शून्य-ग्राम, विनष्ट ग्राम, बौ० श्रौ० ६।१,६।३)। सरस्वती के उत्तर में स्थूलार्म नामक एक ह्रद का वर्णन है जहाँ के जंगल में सौ गायों का वंश बढ़ते-बढ़ते एक सहस्र हो गया था (तांड्य २५।१०।१८)। पाणिनि ने सूत्र में इतने अर्मांत नामों का उल्लेख किया है—भूतार्म, अधिकार्म, संजीवार्म, मद्रार्म, अश्मार्म, कंजलार्म। तैत्तरीय ब्राह्मण में भी अर्म शब्द आया है (३।४।१।६)। ऋग्वेद में अर्मक (१।१३३।३) और यजुर्वेद (३०।११) में अर्म खंडहर या ऊजड़ स्थानों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इस प्राचीन शब्द का प्रयोग कालांतर में भाषा से लुप्त हो गया। हो सकता है यह मूल शब्द म्लेच्छ भाषा का हो। म्लेच्छ (सेमेटिक) परिवार की अर्माइक भाषा में 'अरम' ऊबड़-खाबड़ पथरीले पहाड़ी प्रदेश को कहते हैं। अर्माइक उन लोगों की भाषा थी जो 'अरम' या पर्वतीय प्रदेशों के निवासी थे।

(२१) कंथा—मूल में यह शक भाषा का शब्द था जिसमें कंथ का अर्थ नगर होता है।[३५] शकों का मूल निवास-स्थान शकद्वीप या मध्य एशिया में था, जहाँ उनकी शाखा तुषारों और ऋषिकों के साथ अर्जुन का घोर युद्ध हुआ था (सभापर्व २७, भीष्म० ११)। ये मूल शक कुमुद पर्वत (हिरोदोत के कोमेदई) के आसपास के निवासी थे। पुराणों के अनुसार कुमुद पर्वत मध्यएशिया में सीता नदी (वर्तमान यारकंद) के समीप था। मध्य एशिया में रहते हुए ही शकों का भारतवासियों से प्रथम परिचय हो चुका था। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में शक लोग बाल्हीक से शकस्थान (ईरान का पूर्वीभाग) में आकर आबाद हुए और शकस्थान से चलकर ई० पू० प्रथम शती में तक्षशिला, मथुरा और उज्जयिनी में उन्होंने अपने राज्य स्थापित किए। कात्यायन ने शकंधु और कर्कंधु शब्दों का उल्लेख किया है (शकन्ध्वादिगण ६।१।६३, वा० ४)। निश्चय ही कात्यायनकालीन

३५—स्टेनकोनो, खरोष्ठी लेख, पृष्ठ ४३; लंदन की राजकीय एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, १६३४, पृष्ठ ५१६; तथा शक स्टडीज़ (ओस्लो, १६२६) पृ० ४२, १४६; कंथ = नगर।

शक शकस्थान में आ-बसनेवाले शकों के पूर्वज होने चाहिएँ। जब शक लोग मध्य-एशिया के शाकद्वीप में ही बसते थे तभी ई० पू० चौथी या तीसरी शताब्दी में शकंधु और कर्कंधु,[३६] ये दोनों नाम प्रचलित हो चुके थे। 'शकदेश का कुआँ' और 'कर्कदेश का कुआँ'—ये दो विशेष शब्द हमारी भाषा में दो विशेष प्रकार के कुओं के लिये व्यवहृत हुए। एक प्रकार का कुआँ बावड़ी है जिसमें सीढ़ी के द्वारा पानी तक पहुँचते हैं। यह शकंधु था जिसका प्रचार पच्छिमी भारत में विशेष हुआ। दूसरी तरह के कुएँ रहटवाले थे जिन्हें आज तक ईरानी ढंग के कुएँ (पर्शियन व्हील) कहा जाता है। ये कर्कंधु थे। कर्क पच्छिमी ईरान में शूषा के पास एक प्रदेश था जिसे अब कर्किआ कहते हैं। शकंधु और कर्कंधु, ये दो शब्द कात्यायन के वार्तिक में रहकर साक्षी देते हैं कि पाणिनि-कात्यायन के परिचित शक ई० पू० पहली शती में यहाँ आनेवाले शकों के पूर्ववर्ती थे। शकों के मूल प्रदेश मध्यएशिया में कंथांत नामों का एक ताँता था जो अभी तक रह गया है, जैसे समरकंद, ताशकंद, चिमकंद, पंजकंद, खोकंद, यारकंद, पायकंद आदि। वंक्षु (आमू) और सीर नदी के बीच का प्रदेश सुग्द कहलाता था। सुग्दी भाषा में शक भाषा के कंथ शब्द का रूप कंद हो जाता है।

पाणिनि का परिचय कंथा शब्द से किस प्रकार हुआ होगा यह ध्यान देने योग्य है। अष्टाध्यायी के निम्नलिखित सूत्रों में नगरवाची कंथा शब्द का उल्लेख है—

(१) उशीनर देश में कंथांत स्थान-नाम नपुंसकलिंग होता है; जैसे सौशमिकंथम्, आह्वरकंथम् (संज्ञायां कन्थोशीनरेषु, २।४।२०)।

(२) कुछ अर्थों (शैषिक) में कंथा शब्द में इक् प्रत्यय जुड़ता है; जैसे कांथिक (कन्थायाष्ठक् ४।२।१०२)।

(३) वर्णु देश में कंथा शब्द में अक् प्रत्यय लगता है, जैसे कांथक (वर्णौ वुक् ४।२।१०३)।

(४) कंथांतवाची स्थान-नामों में शैषिक अर्थ में छ प्रत्यय लगता है, यदि उस नाम का पहला अक्षर दीर्घ हो; जैसे दाक्षिकंथीय (कन्था-पलद-नगर-ग्राम-ह्रदोत्तरपदात् ४।२।१४२)।

३६—कर्क प्राचीन ईरान की एक जाति थी। शकों के साथ उसका उल्लेख ईरानी सम्राट् दारा (दारयवहु, सं० धारयद्वसु) के बहिस्तून (भगस्तान) के शिलालेख में आया है।

(५) कंथांतवाची स्थान-नामों में आदि अक्षर उदात्त होता है, जैसे आह्वर-कंथं, चप्यकंथम् (कन्था च ६।२।१२४) ।

(६) कंथांत स्थान-नाम के पूर्वपद में चिहण हो तो चिहण का पहला स्वर उदात्त होता है, जैसे चिहणकंथम् (आदिश्चिहणादीनाम् ६।२।१२५) । चिहणादिगण में अन्य शब्द मडरकंथ, वैतुलकंथ, पटत्कंथ, वैडालिकर्णकंथ, कुक्कुटकंथ और चित्कणकंथ हैं ।

इनमें से कुछ नाम संस्कृत भाषा से इतर ज्ञात होते हैं ।

ऊपर के नियमों में पाणिनि को निश्चित रूप से उशीनर (आधुनिक झंग मघियाना) और वर्णु (आधुनिक बन्नू और वजीरिस्तान का इलाका, गोमल-तोची आदि नदियों की दूनों का भाग) प्रदेशों में कंथांत स्थान-नाम मिले । इस प्रदेश में कंथांत नामों की संगति के लिये मानना चाहिए कि पाणिनि से भी पूर्व किसी समय शक जाति का प्रसार और संपर्क गजनी-कंधार की अधित्यका से उतरकर तोची-गोमल नदियों के मार्ग से रावी और चनाब के काँठे (उशीनर जनपद) तक पहुँचा था ।

नगरों के नाम

पाणिनि ने नगरों को दो भागों में बाँटा है—उदीच्य ग्राम (४।२।१०९) और प्राच्य ग्राम (७।३।१४) । उदीच्यग्रामों के अंतर्गत दो छोटे भेद थे—एक वाहीक ग्राम (४।२।११७) और दूसरे वाहीक के बाहर पच्छिम-उत्तर के अन्य नगर । वाहीक ग्रामों के अंतर्गत एक छोटा समुदाय उशीनर जनपद के नगरों का था (४।२।११८) ।

पाणिनि के समय में वाहीक और उत्तरापथ की समृद्धि बहुसंख्यक नगरों और ग्रामों के रूप में प्रकट थी । यमुना से वंक्षु नदी तक के प्रदेश में तत्कालीन नगरों और ग्रामों के लहलहाते जीवन के अनेक प्रमाण पाए जाते हैं । पाणिनि के दो-तीन शताब्दी बाद तक के यूनानी लेखकों के वर्णनों से इसकी पुष्टि होती है । स्त्राबो के कथनानुसार झेलम और व्यास के नौ बड़े राज्यों में, जिनमें मालव और क्षुद्रक भी थे, पाँच सौ बड़े नगर थे । मेगस्थनीज का कहना है कि भारतवर्ष के नगरों की संख्या इतनी अधिक है कि उसका ठीक अनुमान करना कठिन है । ग्लौचुकायनक नामक जाति के प्रदेश में, जहाँ इस समय भिम्भर-पुंछ-राजौरी का इलाका (प्राचीन अभिसार) है, सैंतीस नगर थे जिनमें से अनेक की जनसंख्या दस सहस्र से ऊपर थी और पाँच सहस्र से कम जनसंख्या किसी में न थी ।

अष्टाध्यायी की सामग्री को देखते हुए यूनानी लेखकों का यह वर्णन सत्य के निकट जान पड़ता है। पाणिनि ने अपने देशव्यापी परिभ्रमण से स्थान-नामों की जो सामग्री एकत्र की थी उसे लगभग बारह सूत्रों के गणपाठों में सुरक्षित कर दिया है। भारतीय भूगोल की आज भी यह अमोल निधि है। अकेले ४।२।७५ और ४।२।८० सूत्रों के गणों में लगभग तीन सौ स्थान-नाम आए हैं। इनके अतिरिक्त स्थान-नामों वाले अन्य गण ये हैं—सुवास्तु (४।२।७७), वरण ४।२।८२), मधु (४।२।८६), उत्कर (४।२।९०), नड (४।२।९१), कत्रि (४।२।९५), नदी (४।२।९७), काशि (४।२।११६), धूम (४।२।१२७), कर्की (६।२।८७), चिहण (६।२।१२५)। इस सूची में लगभग पाँच सौ स्थान-नाम हो जाते हैं। यह संख्या एरियन के लेख से मिलती है। इस सूची के अधिकांश नाम अब पहचाने नहीं जाते। आशा है भारतीय पुरातत्त्व और प्राचीन भूगोल के अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार होने पर भविष्य में इनका पता लग सकेगा।

इन्हीं के सदृश गोत्रवाची नामों की सूचियों में अनेक जातिवाचक भौगोलिक नाम भी अष्टाध्यायी में सुरक्षित रह गए हैं।

सूत्रों में परिगणित स्थान-नाम

जो नाम सूत्रों में पढ़े हैं, उनकी प्रामाणिकता सर्वोपरि है। ऐसे नामों का उल्लेख आवश्यक है।

कापिशी (४।२।९९)—यह कापिशायन प्रांत की राजधानी थी। काबुल से उत्तर-पूर्व हिंदूकुश के दक्षिण आधुनिक बेग्राम प्राचीन कापिशी है। घोरबंद और पंचशीर नदियों के संगम पर स्थित कापिशी नगरी बाल्हीक से बामियाँ होकर कपिश (काफिरिस्तान) में घुसनेवाले मार्ग पर मजबूत नाका थी। यहाँ से प्राप्त एक शिलालेख में यह नाम आया है (एपिग्राफिआ इंडिका, भाग २२, १९३३, पृष्ठ ११, स्टेनकोनो, बेग्राम से प्राप्त खरोष्ठी मूर्तिलेख)। यह हरी दाख की उत्पत्ति का स्थान था। यहाँ बनी हुई कापिशायन मधु नामक विशेष प्रकार की सुरा भारतवर्ष में आती थी, जिसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। प्लिनी के अनुसार छठी शताब्दी ई० पूर्व में हखामनि वंश के ईरानी सम्राट् कुरुष् (५५८—३० ई० पू०) ने कापिशी का विध्वंस किया था। कालांतर में वह पुनः समृद्ध हुई और अंत में हूणों द्वारा विध्वस्त हुई। कापिशी नगरी के सिक्कों पर हाथी का चिह्न पाया गया है जो इंद्र का ऐरावत ज्ञात होता है,

क्योंकि यहाँ के उत्तरकालीन कुछ सिक्कों पर यूनानी देवता 'जियस' (भारतीय इंद्र) की मूर्ति मिली है।

सौवास्तव (४।२।७७)—यह सुवास्तु या स्वात नदी की घाटी का प्रधान नगर था।

वरणा (४।२।८२)—वरण वृक्ष के समीप बसी होने के कारण इस बस्ती का नाम वरणा पड़ा था। वरणा उस दुर्ग का नाम था जो आश्वकायनों के राज्य में सिंधु और स्वात नदियों के मध्य में सबसे सुदृढ़ रक्षा-स्थान था। यूनानी लेखकों ने इसका नाम 'एओरनस' दिया है जहाँ अस्सकेनोई (= आश्वकायन) और सिकंदर का युद्ध हुआ था।[३७] यूनानी भूगोल-लेखकों ने इस प्रदेश में तीन लड़ाकू जातियों के नाम दिए हैं जिनके संस्कृत नाम और स्थान पाणिनीय भूगोल से इस प्रकार जाने जाते हैं—

(१) अस्पेसिओई; स्थान अलीशुंग या कुनड़ नदी की दून। संस्कृत नाम आश्वायन (अश्वादिगण ४।२।११०)।

(२) अस्सकेनोई या अस्सकोई; स्थान स्वात नदी की दून। संस्कृत नाम आश्वकायन या अश्वक (नडादिगण ४।१।९९)।

(३) अस्तकेनोई; स्थान स्वात और कुभा के संगम पर पुष्कलावती के समीप। संस्कृत नाम हास्तिनायन (६।४।१७४)।

इस प्रकार कपिश से गंधार की ओर बढ़ते हुए सिकंदर के मार्ग में आश्वायन, हास्तिनायन और आश्वकायन, इन तीन आयुधजीवी संघों ने प्रतिरोध की अर्गला देकर उससे भयंकर लोहा लिया था। इनमें भी सबसे कठिन प्रतिरोध वरणादुर्ग के अश्वकों ने किया था।

वार्णव (४।२।७७, ४।२।१०३)—वर्णुनद के समीप स्थित नगर की संज्ञा वार्णव थी। इसकी पहचान आधुनिक बन्नू से होती है।

शलातुर (४।३।९४)—पाणिनि का जन्मस्थान, जो सिंधु-कुभा संगम के कोने में ओहिंद से चार मील पश्चिम में था। यह स्थान इस समय लहुर कहलाता है।

तूदी (४।३।९४)—पहचान अनिश्चित।

वर्मती (४।३।९४)—इसकी ठीक पहचान ज्ञात नहीं। हो सकता है यह बीमरान का, जहाँ से खरोष्ठी लेख प्राप्त हुए हैं, पुराना नाम हो।

३७—सर आरेल स्टाइन, आर्क्यालॉजिकल सर्वे मेमॉयर, सं० ४२, पृ० ८९-९०।

कूचवार (४।३।६४)—यह चीनी तुर्किस्तान में उत्तरी तरिम उपत्यका का नाम था, जिसका अर्वाचीन नाम कूचा है। चीनी भाषा में आजकल इसे कूची कहते हैं। कूचा से प्राप्त अभिलेखों में कूचा के राजाओं को कूचीश्वर, कूचि महाराज, कौचेय, कौचेय वरेंद्र कहा गया है। कूचा बहुत प्राचीन राज्य था। चीन से पश्चिम जानेवाले रेशम-पथों पर कूचा प्रसिद्ध केंद्र था। चीनी यात्री तुरफान से कूचा होकर काशगर आते थे और वहाँ से कंबोज (पामीर) और बाल्हीक (बल्ख) होते हुए भारतवर्ष में प्रवेश करते थे। यहाँ से कौच (=कौचप, कोजव) नामक ऊनी वस्त्र आया करते थे।

तक्षशिला (४।३।९३)—यह पूर्वी गंधार की प्रसिद्ध राजधानी थी और सिंधु और विपाशा के बीच के सब नगरों में बड़ी और समृद्ध थी। पाटलिपुत्र, मथुरा और शाकल को पुष्कलावती, कापिशी और बाल्हीक से मिलानेवाले उत्तर-पथ नामक राजमार्ग पर तक्षशिला मुख्य व्यापारिक नगरी थी। पाणिनिकाल से हूणों के समय तक तक्षशिला का प्राधान्य बना रहा।

शर्करा (४।२।८३)—यह सिंधु नद के किनारे प्रसिद्ध सक्खर नामक स्थान है। मार्कंडेय पुराण में 'शार्कराः' जनपद का नाम आया है (५८।३५)।

संकल (४।२।७५)—यह आधुनिक सांगलावाला टीबा (जिला झंग) है। यहाँ कठ क्षत्रियों का केंद्र था।

कास्तीर और अजस्तुंद (कास्तीराजस्तुंदे नगरे ६।१।१५५)—कास्तीर को पतंजलि ने वाहीक ग्राम कहा है।

चिहणकंथ (६।२।१२५)—यह उशीनर देश में कंथांत नाम का नगर था।

अरिष्टपुर (६।२।१००)—बौद्ध साहित्य के अनुसार यह शिवि जनपद का अरिष्टपुर नाम का नगर था।

गौड़पुर (६।२।२००)—यह पुंड्र बंगाल का प्राचीन गौड़ स्थान था। काशिका में इसी सूत्र पर दिए हुए गौड़भृत्यपुर उदाहरण से यही संकेत मिलता है कि गौड़पुर और गौड़भृत्यपुर दोनों उत्तरी बंगाल के नगर थे।

कपिस्थल (८।३।९१)—करनाल जिले में वर्तमान कैथल।

कत्रि (४।२।९५)—संभव है यह वह स्थान हो जिसे कालांतर में अलमोड़े का कत्यूर (कत्रिपुर) कहते थे।

[illegible]नपुर (४।२।१०१), वर्तमान हस्तिनापुर (जिला मेरठ)।

[illegible]पुर (४।२।१०१)—वर्तमान फिल्लौर (जिला जालंधर)।

मार्देयपुर (४।२।१०१)—संभवतः मंडावर (जिला बिजनौर) जो अत्यंत प्राचीन स्थान है।

पलदी (४।२।११०)—अज्ञात।

रोणी (४।२।७८)—संभवतः रोड़ी (जिला हिसार) जो शैरीषक (आधुनिक सिरसा) के पास है। अथवा, संभव है यह बीकानेर से ७० मील दूर रीणी नामक प्राचीन स्थान हो। (इस सूचना के लिये मैं श्री अगरचंद नाहटा का आभारी हूँ।)

ऐषुकारिभक्त (४।२।५४)—उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कुरु जनपद में इसुकार या इषुकार नामक समृद्ध सुंदर और स्फीत नगर था (१४।१)। जिस प्रकार हाँसी का पुराना नाम आसिका था (भंडारकर लेख-सूची, संख्या ३२६) उसी प्रकार हिसार का प्राचीन नाम ऐषुकारि ज्ञात होता है, यद्यपि कुछ लोग उसका संबंध अरबी हिसार (किला) से लगाते हैं।

नड्वल (४।२।८८)—यह मारवाड़ का नाडौल नगर (पृथ्वीराज-विजय, १०।५०) प्रतीत होता है।

सांकाश्य (४।२।८०)—फर्रुखाबाद जिले में इक्षुमती (वर्तमान ईखन) नदी के किनारे वर्तमान संकिसा, जहाँ अशोककालीन स्तंभ के चिह्न मिले हैं। सांकाशादि गण (४।२।८०) में कांपिल्य भी है जो फर्रुखाबाद जिले की कायमगंज तहसील में वर्तमान कंपिल है।

आसंदीवत् (८।२।१२, ४।२।८६)—यह जनमेजय पारीक्षित की राजधानी का नाम था, इसी में उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था (वैदिक इंडेक्स १।७२)। काशिका के अनुसार अहिस्थल।

शिखावल (४।२।८६)—काशिका के अनुसार यह एक नगर का नाम है (शिखावलं नाम नगरम्) जो संभवतः शोण-तट पर स्थित सिहावल नगर (रीवा रियासत) है। 'दन्तशिखात् संज्ञायाम्' (५।२।११३) सूत्र में पाणिनि ने भी इसे संज्ञावाचक शब्द कहा है।

महानगर और नवनगर (६।२।८६)—ये दोनों प्राच्य भारत के स्थान-नाम थे (अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम्)। महानगर महास्थान (जिला बोगरा) का दूसरा नाम जान पड़ता है जो बंगाल में मौर्य-काल से भी पुराना नगर था। उसी के साथ का प्राचीन नवनगर नवद्वीप का दूसरा नाम विदित होता है। महानगर उत्तरी बंगाल और नवनगर पश्चिमी बंगाल का प्रधान केंद्र था।

महानगर पुरानी राजधानी था। यह पुंड्र देश का प्रधान नगर था, इसी लिये इसे महास्थान या महानगर कहा गया। इसी के पच्छिम में गंगा के किनारे एक अन्य स्थान की आवश्यकता पड़ी जो पुंड्र देश के यातायात में सहायक हो सके। वह स्थान गौडपुर था जिसका पाणिनि ने एक सूत्र में उल्लेख किया है। पुंड्र या पौंड्रों के देश से गुड़ के चालान का केंद्र होने के कारण वह गौडपुर कहलाया होगा। कुछ काल बाद पश्चिमी बंगाल में भी व्यापार और आबादी के लिये क्षेत्र खुल गया और वहाँ एक नए केंद्र की स्थापना हुई जो उत्तरी बंगाल के महानगर के मुकाबिले में नवनगर कहा गया।

तौषायण (पक्षादिगण ४।२।८०)—हिसार जिले की फतेहाबाद तहसील में स्थित वर्तमान टोहाणा, जहाँ पर पुराने खंडहर हैं।

सौभूत (संकलादि गण, ४।२।७५)—जिसकी पहचान यूनानी भूगोल-लेखकों के सौफाइट से की जाती है। यह स्थान कुत्तों की खूँखार नस्ल के लिये प्रसिद्ध था, इससे इसका केकय देश में खिउड़ा के पास होना सूचित होता है जहाँ इस प्रकार के महाकाय और महादंष्ट्र कुत्ते होते थे (वाल्मीकि रा० ७०।२०)। पाणिनि के समय में भी कुत्तों की यह नस्ल पाई जाती थी। वाल्मीकि ने उसे केकयराज के अंतःपुर में संवर्धित कहा है। संभवतः इसी कारण कुत्ते के लिये कौलेयक शब्द लोक में प्रचलित हुआ, जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है (कौलेयकः श्वा; ४।२।९६)।

सरालक (तक्षशिलादिगण ४।३।९३)—वर्त्तमान सहराला, जिला लुधियाना। सहरालिए वैश्य यहाँ से अपना निकास मानते हैं (सरालकोऽभिजनो यस्य सः सारालकः)।

चक्रवाल (संख्यादिगण ४।२।८०)—वर्तमान चकवाल, जिला झेलम।

मंडु और खंडु (सुवास्त्वादिगण ४।२।७७)—सिल्वां लेवी ने इनकी पहचान अटक के समीप स्थित उंड और खुंड नामक स्थानों से की है (जूर्नाल आशियातिक, १९१५, पृ० ७३; उत्तरप्रदेश इतिहास परिषद् पत्रिका, दिसंबर १९४२, पृ० ३७)।

शर्यणावत् (मध्वादिगण ४।२।८६)—यह नाम ऋग्वेद १।८४।१४ में भी आता है। इसकी पहचान थानेश्वर के रामह्रद से की जाती है।

उदयपुर का सचित्र विज्ञप्तिपत्र

१ — हाथी पर महाराणा की सवारी

२ — सवारी में सम्मिलित कार साहब (हाथी पर)

३—महाराणा की सवारी, दोनों ओर मकान और दूकानें
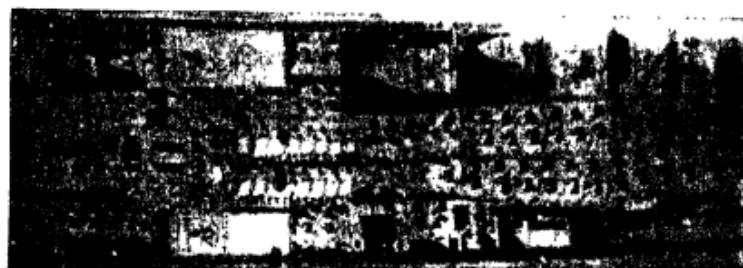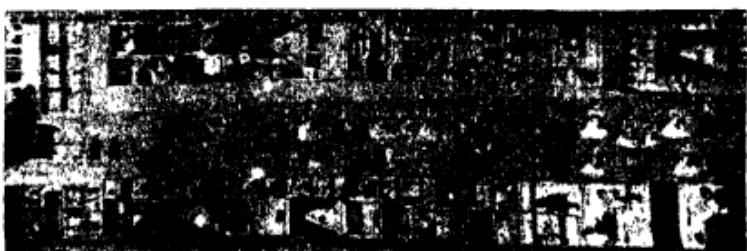
४—सूरि जी के स्वागतार्थ जाते हुए श्रावक, श्राविकाएँ

उदयपुर का सचित्र विज्ञप्तिपत्र

[श्री अगरचंद नाहटा भँवरलाल नाहटा]

प्राचीन भारतीय चित्रकला में जैन चित्रकला अपना एक स्वतंत्र स्थान रखती है। अतः भारतीय चित्रकला के अध्ययन के हेतु जैन चित्रकला का सम्यक् परिज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। भारत में मुसलमानी काल के पूर्व के संधि-कालीन चित्रों का प्रायः अभाव ही पाया जाता है, परंतु जैन चित्रकला हमारे समक्ष उस काल की ताड़पत्र, वस्त्र एवं काष्ठफलकों पर चित्रित अनुपम सामग्री प्रस्तुत करती है। खेद है कि जैन समाज की संकुचित मनोवृत्ति एवं उपेक्षावृत्ति के कारण इस चित्रकला को उचित न्याय नहीं मिल सका है। इसी से यद्यपि पाटण, खंभात और जैसलमेर के ज्ञानभंडारों से 'कल्पसूत्र', 'उत्तराध्ययन', 'कालकाचार्य कथा' आदि पर चित्रित अनेक चित्र प्राप्य हैं और कालकाचार्य कथा एवं कल्पसूत्र के चित्र अमरीका से तथा देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड एवं साराभाई नवाब द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं तथापि जैनेतर विद्वानों का उधर ध्यान नहीं गया है।

जैनों ने शिल्पकला की भाँति चित्रकला में भी मुक्तहस्त होकर धन का सद्-व्यय किया है। आज भी देवसापाड़ा-अहमदाबाद में स्थित जैन-ज्ञानभंडार के एक सचित्र कल्पसूत्र का मूल्य एक लाख रुपया आँका जाता है। इसी प्रकार विभिन्न ज्ञानभंडारों में प्राप्य जैन चित्रकला के हजारों प्रतीक भारतीय चित्रकला के इतिवृत्त में अपना स्वर्णिम पृष्ठ अंकित करने को सर्वदा प्रस्तुत हैं। संप्रति 'उत्तराध्ययन' एवं 'ज्ञातासूत्र' की कुछ सचित्र प्रतियाँ प्राप्त हैं। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से भाषा-ग्रंथों—रास, चौपई आदि—का प्रचुरता से प्रचार हो जाने से वे ग्रंथ भी सचित्र बने। भक्तामर काव्य कथा, कल्याणमंदिर कथा, ढोलामारू चौपाई, चंद राजा नो रास, प्रियमेलक (सिंहलसुत) रास आदि ग्रंथों की प्रतियाँ भी चित्रों से अलंकृत होकर जनता के सामने आईं और इस प्रकार चित्रकला को अधिकाधिक प्रश्रय मिलने लगा।

कथा-साहित्य की ही भाँति, बल्कि उससे भी अधिक, चित्रांकन की आवश्यकता भौगोलिक साहित्य में रहती है, क्योंकि उसकी सहायता से सुदूर और

परोक्ष क्षेत्रों को भी हृदयंगम किया जा सकता है। क्षेत्रसमास, संग्रहणी, लोकनाल इत्यादि के चित्र इस विषय के तथा कर्मग्रंथादि की सारणी आदि तत्त्वज्ञान के परिशीलन के लिये अनन्य सहायक हैं। वस्त्रपटों के चित्र भी इसी प्रकार भावपूर्ण, ज्ञानवर्धक और कलापूर्ण रहे हैं। पंचतीर्थी पट, शत्रुंजय तीर्थादि पट, वर्धमान विद्या पट, सूरिमंत्र पट, ढाई द्वीप और जंबूद्वीप पट तथा चित्रकाव्य पटों के अतिरिक्त पूठे, पटड़ी एवं डाबड़ों की सुंदर कलाभिव्यक्ति भी अत्यंत आकर्षक है।

टिप्पणकाकार लंबे चित्र और विशेषतः विज्ञप्तिपत्र अपना अलग वैशिष्ट्य रखते हैं। इनका अस्तित्व जैनों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। बौद्ध-परंपरा में अवश्य इस प्रकार के कतिपय महत्त्वपूर्ण अंग विद्यमान हैं जो कथावस्तु को चित्रों द्वारा सरलता से व्यक्त कर देते हैं, परंतु विज्ञप्तिपत्रों की ऐतिहासिक परिपाटी का उसमें सर्वथा अभाव है। यह परिपाटी श्वेतांबर जैन संघ से संबंधित है और पचासों विज्ञप्तिपत्र आज भी ज्ञानभंडारों में सुरक्षित पाए जाते हैं। इन कलापूर्ण विज्ञप्तिपत्रों में से कुछ का परिचय महाराजा गायकवाड़ की राज्याभिषेक ग्रंथमाला के प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशित 'एंशंट विज्ञप्तिपत्राज' नामक ग्रंथ में कराया गया है। अन्य संग्रहालयों में और भी बहुत से विज्ञप्तिपत्र हैं जिनका परिचय प्राप्त होने से इस विषय एवं कला का सांगोपांग इतिहास प्रकाश में आ सकता है।

जैन-समाज के साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका संज्ञक चतुर्विध संघ में आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। उनके आज्ञानुवर्ती नाना-स्थान-स्थित मुनिगण पर्यूषणा-सांवत्सरिक महापर्व की आराधना के अनंतर आचार्य की सेवा में एक विज्ञप्तिपत्र भेजते थे, जिसमें स्थानीय धर्मकृत्यों के संवाद, तपश्चर्या, प्रभावना, सूत्र-व्याख्यान-श्रवण तथा क्षमापनादि विनीत भाव (साधु एवं श्रावकों द्वारा) व्यक्त किए जाते थे। इस विज्ञप्तिपत्र द्वारा आचार्य को अपने नगर में पधारने के लिये आमंत्रित किया जाता था। मुनिगण द्वारा प्रेषित पत्र पांडित्यपूर्ण संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में लिखे जाते थे और गद्य-पद्यमय एवं काव्यगुणों से पूर्ण होते थे तथा श्रावकसंघ द्वारा प्रेषित पत्र सचित्र होते थे और संस्कृतमिश्रित लोकभाषा अथवा केवल लोकभाषा में लिखे जाते थे।

इस प्रकार के विज्ञप्तिपत्रों की परंपरा बहुत प्राचीन ज्ञात होती है। पाटणभंडार से प्राप्त ताड़पत्र पर लिखी प्रति के प्राप्त मध्य पत्र का उल्लेख पुरातत्त्वविद् श्री जिनविजय जी ने 'विज्ञप्तित्रिवेणी' के पृष्ठ ३२ पर किया है। अब तक प्राप्त विस्तृत विज्ञप्तिपत्रों में सं० १४३१ की मौन-एकादशी के दिन पाटण नगर से श्री

जिनोदय सूरि द्वारा अयोध्या-स्थित श्री लोकहिताचार्य को प्रेषित पत्र[1] सबसे प्राचीन है। इसके पश्चात् सं० १४६६ में श्री देवसुंदर सूरि को प्रेषित विज्ञप्तिपत्र आता है जिसका अब केवल गुर्वावली खंड ही अवशिष्ट है, जो प्रकाशित हो चुका है। तीसरा महत्त्वपूर्ण विज्ञप्तिपत्र है 'विज्ञप्तित्रिवेणी' जो संवत् १४८४ में खरतरगच्छीय उपाध्याय जयसागर गणि द्वारा श्री जिनभद्र सूरि के प्रति प्रेषित किया गया था। इसमें सिंध प्रांत के मलिकवाहणपुर से नगरकोट-काँगड़ा महातीर्थ की यात्रा का विद्वत्तापूर्ण एवं मनोमुग्धकारी वर्णन है। इस प्रकार पंद्रहवीं शती के तीन विशिष्ट विज्ञप्तिपत्र[2] उपलब्ध हैं। सोलहवीं शती में इस धारा के प्रवाह को बल नहीं मिला, फलस्वरूप उस समय की कोई विस्तृत रचना नहीं पाई जाती।

सतरहवीं शती के प्रारंभ की एक रचना(सं० १६०४-१६१२)नाहटा-कला-भवन (बीकानेर) में अपूर्ण विद्यमान है। यह गद्य-पद्यात्मक चित्रकाव्यमय पत्र बीकानेर से श्री जिनमाणिक्य सूरि जी को जैसलमेर भेजा गया था।[3] इसके पश्चात् तो गद्य-पद्यात्मक विज्ञप्तिपत्रों की परंपरा चल पड़ी और दूत-काव्य, खंड काव्य, पादपूर्ति काव्य आदि विशिष्ट कृतियों का निर्माण होने लगा, जिनका प्रचार अठारहवीं शती तक रहा।[4] उन्नीसवीं शती में संस्कृत प्राकृत का स्थान देशभाषाओं ने ले लिया जिसके फलस्वरूप विज्ञप्तिपत्र भी गद्य-पद्यमय एवं मिश्रित भाषा में लिखे जाने लगे। सतरहवीं से उन्नीसवीं शती तक नगर-वर्णनात्मक गजल शैली को प्रोत्साहन देने में यह पद्धति विशेष सहायक हुई और कतिपय गजलें तो इसी उद्देश्य से निर्मित हुईं।

विज्ञप्तिपत्रों की दूसरी विशेषता थी उनका सचित्र निर्माण। इस शैली का विकास सतरहवीं शती से हुआ। ऐसे पत्रों में आगरा-नगरस्थ संघ द्वारा तपागच्छाचार्य श्री विजयसेन सूरि को प्रेषित विज्ञप्तिपत्र का स्थान सर्वोपरि है। यह सचित्र

१—इसका ऐतिहासिक सार कोटा से प्रकाशित 'विकास', वर्ष १ सं० १ में लेखक द्वारा दिया जा चुका है।

२—जोधपुर के राजकीय संग्रहालय में लगभग हजार श्लोकों का विज्ञप्ति-संग्रह प्राप्त है, उसके प्रारंभ और अंत के कई पत्र प्राप्त नहीं हैं।

३—राजस्थान भारती, वर्ष २ अंक १ में प्रकाशित।

४—विज्ञप्तिपत्रों का एक विशिष्ट संग्रह मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित सिंघी जैन ग्रंथमाला में शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है। इसके अतिरिक्त नाहटा-कलाभवन (बीकानेर) में चित्रकोश रूप विज्ञप्तिलेख, पाणिनीय द्वयाश्रय विज्ञप्तिलेख आदि अनेक विशिष्ट लेख विद्यमान हैं।

विज्ञप्तिपत्र कलापूर्ण होने के साथ साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें शाही चित्रकार श्री शालिवाहन ने बादशाह जहाँगीर द्वारा बारह सूबों के अमारि-उद्घोषण का फरमान दिए जाने तथा राजा रामदास द्वारा उसके प्रस्तुत होने के भाव सहित अपनी आँखों-देखा दृश्य चित्रित किया है। चित्रों के नीचे लिखे परिचय से तत्कालीन भौगोलिक, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति का पता चलता है। इसमें आगरा का शाही दरबार, साधुओं का आगमन, दुर्गद्वारस्थित जयमल पत्ता का चित्र आदि पर्याप्त आकर्षक सामग्री विद्यमान है। चित्रपट के नीचे श्रावक की ओर से वंदना, तपश्चर्या, धर्म, ध्यान आदि के संवाद तथा सं० चंदू द्वारा निर्मापित नवीन जिन चैत्य की प्रतिष्ठा के हेतु पधारने के लिये सूरि जी से नम्र प्रार्थना आदि वृत्तांत अंकित हैं।

इसी शताब्दी में दूसरे भी इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण विज्ञप्तिपत्र अवश्य निर्मित हुए किंतु दुर्भाग्यवश वे सुरक्षित नहीं रहे। इसके पश्चात् अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में पचासों बहुमूल्य एवं कलापूर्ण विज्ञप्तिपत्र तैयार हुए थे, जिनमें कुछ तो नष्ट हो गए और कुछ ज्ञानभंडारों अथवा व्यक्तिगत संग्रहालयों में अज्ञात पड़े हैं। बड़ोदा से प्रकाशित 'एंशंट विज्ञप्तिपत्राज' में चौबीस विज्ञप्तिपत्रों का परिचय छपा है जिनमें लगभग आधे सचित्र होंगे। उनके अतिरिक्त एक दर्जन से ऊपर सचित्र विज्ञप्तिपत्र हमारी जानकारी में हैं जिनमें से सं० १८८७ के उदयपुर के सचित्र विज्ञप्तिपत्र का परिचय यहाँ दिया जा रहा है। इसके पश्चात् भी यह परंपरा कुछ वर्षों तक चलती रही,[५] परंतु सं० १९१६ में खरतरगच्छाचार्य श्री जिनमुक्तिसूरि जी को दिए गए विज्ञप्तिपत्र के पश्चात् अन्य किसी विज्ञप्तिपत्र का पता नहीं लगा है।

प्रस्तुत उदयपुरीय विज्ञप्तिपत्र ७० फुट लंबा है और १ फुट २ इंच चौड़ा। दोनों किनारों पर बेल-पत्तियाँ बनी हुई हैं। इसके चित्र तत्कालीन चित्रकला के महत्त्वपूर्ण निदर्शन हैं और उदयपुर नगर की उस समय की स्थिति, ऐतिहासिक स्थान, सामाजिक अवस्था, धार्मिक उत्साह आदि चित्रित करते हैं। अन्य विज्ञप्ति-पत्रों से इसमें विशेषता यह है कि चित्र के नीचे नामोल्लेख करके प्रत्येक स्थान का परिचय करा दिया गया है। इससे धर्मस्थान, राजकीय भवन, व्यक्तिगत गृहों और

५—सं० १८९८ का सचित्र बीकानेरीय विज्ञप्तिलेख बीकानेर के बड़े उपाश्रय के ज्ञानभंडार में है, जिसका परिचय, 'राजस्थान भारती', वर्ष १ अंक ४ में प्रकाशित हो चुका है।

दूकानों आदि सबकी जानकारी हो जाती है। चित्रों की समाप्ति के पश्चात् लिखी हुई 'वीनति' (विनती) भी महत्त्वपूर्ण है। इस विज्ञप्तिपत्र से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं—

(१) इसकी भाषा मेवाड़ी न होकर मारवाड़ी है, जिसका कारण यह हो सकता है कि लेखक पं० ऋषभदास पं० कुशलचंद मारवाड़ी प्रतीत होते हैं। इसमें मेवाड़ के मक्की-जौ के खाद्य का निर्देश है।

(२) सेठ जोरावरमल जी बाफणा के वहाँ न होने तथा बच्छावत मेहता शेरसिंह के काम पर न होने से विज्ञप्तिपत्र भेजने में विलंब हुआ। वैशाख सुदी २ को राणा जी की कृपा से मेहता जी कार्य पर संलग्न हुए।

(३) यह चित्र-लेख लेकर श्रीहजूर (महाराणा जी) का हरकारा बीकानेर आया था।

(४) इस विज्ञप्तिपत्र पर मेहता शेरसिंह, नगरसेठ वेणीदास, बाफणा जोरावरमल सुलतानचंद चनणमल (कोटा के दीवान बहादुर सेठ केसरीसिंह के पूर्वज) इत्यादि तत्कालीन प्रतिष्ठित एवं राजमान्य श्रावकों के हस्ताक्षर हैं।

(५) चित्रों की दृष्टि से भी यह विज्ञप्तिपत्र मूल्यवान् है। इसमें उदयपुर के तत्कालीन महाराणा का चित्र चार बार आया है—(१) पीछोला तालाब के नौका-विहार में, जिसमें वे खास मुसाहबों के साथ विराजमान हैं, (२) पाकशाला में, (३) दरीखाने में, उमराव सहित, (४) हाथी पर हौदे में, सेना एवं अंग्रेजों के प्रतिनिधि काप साहब के साथ। दिल्ली दरवाजे के बाह्यवर्ती दादावाड़ी में सुरि महाराज बहुत से श्रावकों से परिवृत दिखाए गए हैं। तत्कालीन स्थान और दृश्य सूक्ष्म ब्यौरे के साथ दिखाए गए हैं।

सर्वप्रथम बेल-पत्तियों से आवृत पुष्पों का गमला है जिसके उभय पक्ष में शुक अवस्थित हैं। फिर मंगलकलश, युगल चामरधारी युक्त शय्यासनों के तीन चित्र तथा तीर्थंकर-माता के चतुर्दश स्वप्न (गज, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चंद्र, सूर्य, ध्वज, पूर्ण कलश, सरोवर, समुद्रतट, देवविमान, रत्नराशि, निर्धूम अग्नि), परिचारिका-चतुष्क सहित शय्यासन-सुषुप्त तीर्थंकर-माता, जिन-मंदिर, एवं अष्टमंगलीक (दर्पण, भद्रासन, नंद्यावर्त, कलश, मत्स्ययुगल, शराव संपुट, श्रीवत्स, स्वस्तिक) के जैन चित्रकला संबंधी चित्र १४। फुट की लंबाई में विविध रंगों में चारों ओर बेल-पत्तियों के चित्र सहित अंकित हैं।

इसके पश्चात् उदयपुर नगर के ऐतिहासिक चित्र हैं। सर्वप्रथम पीछोला तालाब है जिसमें मीन, मकर, कच्छप, कमल एवं तैरती हुई नौकाएँ चित्रित हैं। इसके उभय पक्ष में जंगल-पहाड़ हैं। वाम पार्श्व में सीतादेरी तथा बैजनाथ के देवालय हैं। तालाब के मध्य में वाटिका के बीच जगमंदिर, जगनिवास, महाराणा का नौका-विहार ('मीजलस की असवारी नाव की दरबार') तथा मोहन-मंदिर के चित्र हैं। दाहिनी ओर वृक्षों के बीच शिवालय, बड़ीपाल (घाट), भीमनिवास, नजरबाग और रूपघाट तथा बाईं ओर तीन शिवालय, जिनमें एक का नाम भीमपदमेसर लिखा है, और अमरकुंड आदि चित्रित हैं। यहाँ तक तालाब और उसके उभय पक्ष में स्थित स्थानों के चित्र ७ फुट १० इंच की लंबाई में फैले हैं। तदनंतर राजप्रासादों के चित्र प्रारंभ होते हैं। जिन स्थानों के नीचे चित्रकार ने नामोल्लेख किया है उनका ब्यौरा इस प्रकार है—

महाराणा रसोईघर में विराज रहे हैं ('रसोड़ विराज्या दरबार'); दाहिनी ओर दमाम; वाणनाथ जी के मंदिर में दरबार प्रातःकालीन पूजन कर रहे हैं; सूर्य गोखड़ा (गवाक्ष); जनानी पोल; तोरण पोल; जनानी ड्योढ़ी; मोती महल; चीनी गोखड़ा; अमर म(ह)ल। फिर लिखा है—'बड़े दरीखाना री बैठक बिराज्या उमराव १६ पासवान नीज सूर्धा'। इसमें महाराणा के समक्ष आठ व्यक्ति बैठे हैं, चार व्यक्ति पृष्ठ भाग में खड़े हैं और आठ उमराव बैठे हुए हैं। इसके आगे दस व्यक्ति खड़े हैं तथा चार स्त्रियाँ बैठी हुई हैं। खुले चौक में घुड़सवार घोड़े फेर रहे हैं। हाथी और सेना भी उपस्थित है। मध्य में स्थित त्रिपोल्या के उभय पक्ष में ग्यारह द्वारपाल बैठे हैं। बाह्य भाग में दाहिनी ओर घंटाघर है। मध्यवर्ती चौक में घुड़सवार, प्यादे, पालकी, भारवाही मजदूर, काँवरधारी ग्वाले दिखाए गए हैं। फिर बड़ी पोल का द्वार है जिसके मध्य में एक पहरेदार खड़ा है और सात बैठे हैं। बाएँ किनारे जंजीर में बँधा मदोन्मत्त हाथी खड़ा है जिसके सामने कोठार है, और दाहिनी ओर धर्मखाते का कोठार है। यह दाहिनी ओर के स्थानों का परिचय हुआ, अब बाईं ओर का विवरण दिया जाता है—

धर्मखाते के कोठार के बाद कई मकानों के चित्र हैं। तदनंतर श्रीकृष्ण जी का शिखरबद्ध मंदिर है जिसमें 'वावायरो मंदिर' लिखा है। फिर कई मकान हैं जिनके गवाक्षों में महिलाएँ तथा बैठकों में पुरुष बैठे हैं। फिर बाफणों का एवं कसौटा का जैन मंदिर है। इसके आगे प्रधान गलूंड्या शिवलाल जी अपने मकान में कई व्यक्तियों के साथ बैठे हैं। तत्पश्चात् बाजार आरंभ होता है जिसमें

दूकानदार अपनी अपनी दूकानों में बैठे हैं। सर्वप्रथम मारवाड़ी चौक है जिसमें जोरावरमल जी की दूकान, पन्नालाल जी की दूकान, 'कोटवाली चौतरो बड़ो', बोहरां रो बाजार, मणियारी बाजार, पंसारी बाजार, हुँबड़ों का दिगंबर जैन मंदिर, खरतरगच्छीय वासुपूज्य जी का प्राचीन मंदिर, इकलिंग दास चोल्या की बैठक, बजाजी बाजार, 'मंदिर तलांरी माता रो', दिगंबरी मंदिर, मोची बाजार, जोशी चतुर्भुज जी का घर, सोना रो बाजार, अग्रवालों का जैन मंदिर, ताँबा री टकसाल (पइसा पड़ै छे), 'कुंड वहाँजी राज रो' हैं। फिर कई दूकानों के बाद दिल्ली दरवाजा आ गया है।

अब बड़ी पोल की बाईं ओर के स्थानों में से जिनका नामोल्लेख चित्र में हुआ है उनका निर्देश किया जाता है। कोठार, राजपूजनीक जगन्नाथराय मंदिर, नीरूघाट का रास्ता, फिर कई मकानों के बाद चंद्रप्रभु जी का जैन मंदिर, कुअँर पदे के नए महल, 'टंकसाल रूप्यांरी' (रुपयों की टकसाल), शीतलनाथ जी का मंदिर, तपों का उपाश्रय, जगरूपदास काँकरिया की दूकान, आणंदराम नाहटा, माण (क) चौक में नगरसेठ वेणीदास जी की दूकान, 'बहोतणी (?) चोतरो सायर', पसारी बजार, बजाजी बाजार, रंगरेजी बाजार, 'मसीत खेरा खाँ री,' 'मंदिर संडेरगच्छ रो,' जैन मंदिर (नाम घिसा), मोची बाजार, 'मंदिर जोसी जी रो,' ढुंढियों की उपाधशाला (स्थानक), खंडेलवालों का मंदिर, सायर, महेश्वरियों का मंदिर, भैरूँ स्थान, खरतर भट्टारक शाखा का उपाश्रय (मंडी में), ऋषभदेव जी का मंदिर खरतरगच्छ का (मंडी में), 'सहेल्यां-दरोगां-पंचोल्यां रो मंदिर,' 'भेसस्रां रो मंदिर' (?)। इसके पास ज्वालामुखी तोप लगी हुई है। सामनेवाली सड़क के किनारे भी तोप है। यहाँ फिर दिल्ली दरवाजा आ गया है।

अब मध्यवर्ती भाग का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। हाथी, घोड़े, ऊँट, घुड़सवार, पैदल, पालकी, रथ, पनिहारी, मजदूर, संन्यासी, पथिक इत्यादि सर्वत्र दिखाए गए हैं। साग बाजार में बैठी हुई मालिनें सब्जी बेंच रही हैं। महाराणा की लंबी सवारी दिखाई गई है जिसमें महाराणा हाथी के हौदे पर विराजमान हैं। आगे-पीछे फौज, मुसाहिब, गजारूढ़ काप साहब आदि साथ चल रहे हैं। आगे कोटवाली का चौतरा और मंडही (चुंगी) का चौक दिखाया गया है। पुरुषों और स्त्रियों का समूह नगर में पधारने के लिये प्रस्तुत सूरि महाराज के स्वागतार्थ जा रहा है। बीच में फूटा दरवाजा भी आया है। बड़ी पोल से दिल्ली दरवाजे तक के चित्र ३२१ फुट में बने हैं।

दरवाजे के बाहरी भाग में उसकी दाहिनी ओर भट्टारक जी की बाड़ी, साजी फकीर का तकिया, 'बालकदास री जागा' (हनुमान मंदिर), 'तलाई भिखारी नाथ री', 'छावणी फिरंगी री', 'साहब रो बंगलो' हैं। बाईं ओर—ल(?)जागर जी को मंदिर, चेलां रो मंदिर, दादूपंथियों री जागा, मंदिर पंहड़ी रो, तथा दादवाड़ी नवी हैं। संलग्न दादाबाड़ी के बाग में सूरि महाराज पधारे हैं और बहुत से श्रावक एवं श्राविकाएँ बैठी हुई दर्शन-पूजन-वंदनादि कर रही हैं। बाग के बाहर रथ, पालकी आदि वाहन पड़े हुए हैं। दिल्ली दरवाजे के बाहर रास्ते में बहुत से यति, श्रावक, वाजित्र बजानेवाले, सिंगारे हुए घोड़े, हाथी, राजकीय सेना, नागरिक इत्यादि सूरि जी के स्वागतार्थ उपस्थित हैं। यहाँ ७ फुट तक विज्ञप्तिपत्र समाप्त हो जाते हैं।

इसके पश्चात् ४॥। फुट में विज्ञप्तिलेख और ३ फुट में उदयपुर के प्रतिष्ठित श्रावक-समुदाय के वंदना-निर्देशात्मक हस्ताक्षर हैं। विस्तारभय से समग्र लेख उद्धृत न कर यहाँ केवल आवश्यक अंश दिया जाता है—

× × × श्रीमद्विक्रमपुर नगरे सुस्थाने पूज्याराध्य × × × श्री श्री जिनहर्ष सूरीश्वरान् श्री उदयपुर थी सदासेवग आज्ञाकारी लिखतं समस्त श्री संघ की त्रिकाल वंदना अवधारसी जी। अत्र श्री केशरियानाथ जी महाराज प्रसादे सुख शांती छै। श्री जी महाराज रा सदा सुख आणंद री घड़ी सदा सर्वदा चाहीजै जी। आप मोटा हो बड़ा हो उदयपुर ना श्रीसंघ माथै सदा कृपा सुदृष्टि रखावो जिण सुं विशेष रखावसी जी अत्र नो श्री संघ रात्र दिन स्मरण कर रेयो छै ज्युं चात्रक मोर रात दिन वर्षा नै रटै ज्युं श्री संघ रट रेया छै। सो श्री संघ माथै कृपा करकै अब कै चौमास उदयपुर नो करावसी आपरै तो बड़ा बड़ा श्रावक बाट देख रेया छै श्री संघ माथै पूर्ण कृपा हुवै आछौ पुण्य हुवै जिणी ठिकाणै श्री जी महाराज रो पधारणौ हुवै फेर मेवाड़ देस में मक्की जव रो खंत छै जिणी सामौ देखावसी नहीं दिन संकड़ाइ आया है सो जिणी सामो देखावसी नहीं घणा भव्य जीवां नै सम्यक्त्व रो लाभ होसी जिन शासन री घणी महिमा होसी श्री गणधर महाराज पधारसी जठे सर्व बात रो कल्याण होसी फेर इतरा दिन री ढील हुई सो सेठ जी जोरावरमल जी अठे नहीं नै बच्छावत म्हेता श्री शेरसिंह जी रै काम नहीं हतो सो दादा साहब री कृपा नै श्री जी हजूर री कृपा सुदृष्टि सुं करके श्री हजूर सुं खुसी होय कै वैसाख सुदि २ रै दिन काम सूंप्यो जठा पछे म्हेतै जी राजी खुसी होय कै कह्यो श्री जी महाराज पधारै तो घणो आछो, जिण सुं ढील हुई सो तकसीरी माफ करावसी आप कृपा करकै वेगा पधारसी ढील करावसी नहीं मोटो लाभालाभ रो कारण घणां जीवां ने सम्यक्त्व रो उदै होसी थोड़े लिख्यो घणो कर मानसी श्री हजूर रो हरकारा नै चित्रलेख ले करकै मेल्यो है सो वेग पधारसी श्री जी महाराज रो दरसन हुसी सो दिन सोनै रूपै रो ऊगसी श्री संघ

लायक सेवा चाकर हमेशा लिखावसी अत्र श्री जी महाराज रै हुकम री बात छै सर्व साधुमंडली सपरिवार सुं त्रिकाल वंदना अवधारसी जी सं० १८८७ रा जेठ वद १३ अक्खर ओछो अधिकुं लिखायौ हुवे सो तकसीरी माफ करावसी आप मोटा हौ ॥

लिखतं सदा सेवक आज्ञाकारी हुकमी पं० ऋषभदास। पं० कुशलचंद री त्रिकाल वंदना १०८ वार नित्यप्रत्ये द्वादशावर्त वंदना सदैव अवधारसी श्री संघ री बीनती प्रमाण करके वेगा पधारसी ढील करावसो नहीं—

ऋष ऊंकार की वंदना १०८ अवधारसो जी आप वेगा पधारसी ढील करसी नहीं।

इसके पश्चात् निम्नलिखित प्रकार से श्रावकों के हस्ताक्षर हैं—

म्हेता सेरसिंह की वंदना अवधारसी कृपा है ज्युं ह रखासी।

सा० वेणीदास बापणा की बंदना दिनप्रत १०८ अवधारसी जो वेग पधारसी दर्शन वेगा देसी।

सा० रूपचंद चमना वेलावत री वंदना मालूम हुवै आप वेगा पधारसी दर्शन वेगा देसी।

लिखतु जोरावरमल सुलतानचंद चनणमल बाफणा का वंदना वंचीजो १०८ करने वंदना अवधारीजो धर्मस्नेह राखो छो जिण सुं ज्यादा रखावजो आपरा गुण तो अनेक छै इण मध्ये कठै सुं लिखीया जावै आप वेगा पधारसी।

लि० पन्नालाल भीचंद सुखलाल फलोधियै री वंदना × × ×

लि० जगरूपदास तिलोकचंद कांकरियै री बंदना १० दिन प्रते अवधारसी

लि० आणंदराम मगनीराम नाहटा री वंदना × × ×

लि० हेमराज मआचंदाणी भणसाली की वंदना १०८ वार अवधारसी दर्शन वेगा दीजो × × ×

लि० जेठमल ताराचंद कोठारी की वंदना १०८ अवधारसी जी × × ×

लि० गुलाबचंद जोरावरमल दूगड़ री वंदना अवधारसी जी × × ×

लि० रामदान मेघराज गोलछै री वंदना × × ×

लि० मु० हिंदुमल की वंदना अवधारसी × × ×

साह जेठमल बरठिया ऋषभदास बरठिया की वंदना × × ×

लिखतु टीकमदास महसींघ सेरसींघ चत्रभुज चोपड़ा की वंदना × × ×

सा० एकलिंगदास श्रीमाल री तरफ री वंदना × × ×

संगवी सुखनरचा (?) नंदराम जोरावर समस्त पंचागमल चाहका (?) की १०८ वार वंदना बंचावसी × × ×

सा० चत्रभुज बच्छराज हींगड़ री त्रिकाल वंदना १०८ बाचसी

मुहणोत दिलीचंद घासीराम भैरूंदास की वंदना १०८ वार घणे मान करनै अवधारसी बेगा पधारसी

सोहनलाल जी ताराचंद डांगा री वंदना बारंवार वंचीजो

साह ॐकार लाल की वंदना × × ×

साह डुंगरसी काटड़े री त्रिकाल वंदना × × ×

साह जयचंद वीरचंद छाजेड़ री १०८ वार वंदना × × ×

सा० ईसरदास भगजी कवड़ (कावड़िया) री वंदना × × ×

सा० टेकचंद गंगवाल री वंदना बांचसी

सा० गुलाब जी मं० अमरदास जी री वंदना बांचसी

चितोड़ा वेणीचंद मयाचंद अमरचंद सिवदास री १०८ वंदना × × ×

वणागीया सरावगी दयाचंद दौलतराम री वंदना १०८ वार बेगा पधारसी

सा० रतना रूपचंद सबलदास मुणोत री त्रिकाल वंदना × × ×

सा० दौलतराम सरीपार चितोड़ा री १०८ वार वंदना × × ×

लि० दुलीचंद जोतराज पनाचंद मालु री त्रिकाल वंदना × × ×

सा० ऊद श्री ताराचंद नेमचंद पोरवाड़ री वंदना × × ×

सा० खेमचद खंडेलवाल सोनी री वंदना × × ×

लिखतु मूलचंद वीराणी री वंदना × × ×

मुखपृष्ठ पर निम्नलिखित लेख है—

सकल भट्टारक शिरोमणीय चौरासी गण गच्छ नायक जंगम युगप्रधान भट्टारक पुरंदर भट्टारक प्रभु श्री १०८ श्री (२१ वार) श्री १०८ श्री जिनहर्ष सूरि जी सूरीश्वरान् चरण-कमलान् चित्रलेख बीकानेर नै राँगड़ी में खरतर भट्टारक उपासरै पहोंचै ॥ श्रीरस्तु ॥

नंददास की रूपमंजरी

[श्री परशुराम चतुर्वेदी]

१

नंददास अष्टछाप के प्रसिद्ध आठ भक्त कवियों में से अन्यतम थे। इनके विषय में 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने लिखा है कि ये 'लीला पद एवं रसरीति के ग्रंथों की रचना में निपुण थे, सरस उक्ति तथा भक्तिरस के गान के लिये प्रसिद्ध थे, रामपुर ग्राम के रहनेवाले थे और चंद्रहास नामक किसी व्यक्ति के बड़े भाई थे।'[1] परंतु इस कथन से न तो नंददास के जीवन-काल पर प्रकाश पड़ता है और न इनके जन्म-स्थान वा परिवार के ही संबंध में कोई निश्चित परिचय मिलता है। उक्त भक्त-माल पर लिखी गई प्रियादास की टीका अथवा ध्रुवदास की 'भक्त नामावली' जैसी रचनाओं से भी कुछ पता नहीं चलता। अष्टछाप वाले भक्त कवियों में विट्ठलनाथ के शिष्यों का विवरण देनेवाली 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से जान पड़ता है कि ये नंददास तुलसीदास के छोटे भाई थे और सदा विषयों में अनुरक्त रहा करते थे। एक बार जब ये द्वारकापुरी की यात्रा करने निकले तो मार्ग में एक क्षत्रिय की रूपवती स्त्री को देखकर उसपर आसक्त हो गए और जब उसके परिवार वाले अपना गाँव छोड़कर गोकुल की ओर चले तो उनके साथ ये भी हो लिए। बीच में जब ये लोग यमुना नदी तक पहुँचे तो इन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथ के दर्शन हो गए, जिन्होंने इन्हें दीक्षित कर दिया। तुलसीदास को जब इनका पता चला तो उन्होंने इन्हें काशी बुला भेजा, किंतु ये वहाँ नहीं गए और यहीं रहकर ग्रंथरचना करने लगे।[2] 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में एक अन्य स्थल[3] पर यह भी लिखा है कि किसी हिंदू राजा की पुत्री रूपमंजरी अकबर बादशाह की ब्याही दासी

१—भक्तमाल (रूपकला संस्करण), पृष्ठ ६०२

२—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (डाकोर संस्करण), पृ० २८–३५

३—वही, पृष्ठ ३८५-७

थी। वह अपने उस पति को स्पर्श नहीं करती थी, किंतु नंददास के यहाँ गुप्त रूप से मिलने जाया करती थी। अकबर इससे भेंट करने के उद्देश्य से व्रजमंडल आया और दो दिन बाद का समय इसके लिये निश्चित हुआ। किंतु इसी बीच रूपमंजरी के यहाँ स्वयं गोवर्धननाथ जी को भोग लगाते देखकर नंददास अत्यंत प्रभावित हो गए थे। अतएव अकबर के कुछ प्रश्न पूछते ही इन्होंने उत्तर देने के बदले अपना शरीर त्याग दिया और इस वृत्तांत को सुनते ही रूपमंजरी भी चल बसी।

पता चलता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इनकी तथा रूपमंजरी की मृत्यु के अनंतर दोनों की प्रशंसा की थी। 'श्री गोवर्धननाथ जी की प्राकट्य वार्ता' से यह भी विदित होता है कि इन्होंने श्रीनाथ जी के सम्मुख कीर्तन किया था। श्रीनाथ जी की सेविका रूपमंजरी के साथ इनकी मित्रता थी और उसके लिये इन्होंने 'रसमंजरी' की रचना भी की थी।[४] नंददास ने अपने किसी 'रसिक मित्र' का उल्लेख अपनी दो तीन रचनाओं में किया है और उनके कथन से जान पड़ता है कि इन्होंने इन रचनाओं को उस प्रिय मित्र की प्रेरणा से ही निर्मित करने का विचार किया होगा। उदाहरण के लिये, 'रासपंचाध्यायी' के एक स्थल[५] पर वे कहते हैं—

परम रसिक इक मीत मोहि तिन आज्ञा दीन्हीं।
ताते मैं यह कथा जथा मति भाषा कीन्ही ॥ १६ ॥

तथा भाषा दशम-स्कंध में भी ये इसी प्रकार कहते हैं—

पर विचित्र मित्र इक रहै। कृष्ण चरित्र सुन्यो सो चहै ॥
तिन कही दशम स्कंध जु आहि। भाषा करि कछु बरनो ताहि ॥[६]

और उक्त 'रसमंजरी' में भी इनका कथन है—

एक मीत हम सों अस गुन्यो। मैं नाइका-भेद नहिं सुन्यो ॥
× × ×
तासों नंद कहत तव ऊतर। मूरख जन मन मोहित दूतर ॥[७]

परंतु नंददास के किसी अन्य घनिष्ठ मित्र का पता उपलब्ध सामग्री के आधार पर नहीं चलता। इसलिये अनुमान किया जाता है कि इनका वह "परम रसिक

४—नंददास ग्रंथावली (व्रजरत्नदास संपादित) भूमिका, पृष्ठ ६
५—वही, मूल, पृष्ठ ४
६—नंददास-ग्रंथावली (व्रजरत्नदास संपादित), पृष्ठ २१६
७—वही, पृष्ठ १४४

मीत" रूपमंजरी ही रही होगी, जिसके अनुरोध से उन्होंने उक्त रचनाएँ की होंगी। इतना ही नहीं, नंददास की रचना 'रूपमंजरी' को देखने से यह भी प्रतीत होता है कि उसकी नायिका उपर्युक्त रूपमंजरी ही है और उसकी सहचरी इंदुमती स्वयं नंददास के अतिरिक्त कोई नहीं है। उस रचना का कवि नायिका का सौंदर्य-वर्णन करते समय स्वयं कह देता है—"रूपमंजरी छवि कहन, इंदुमती मति कौन"।[८]

फिर भी नंददास के निवास-स्थान रामपुर अथवा इनके जीवन-काल की समस्या पर इन बातों द्वारा प्रकाश नहीं पड़ता। उत्तर-प्रदेश के एटा जिले में, सोरों के निकट, एक गाँव रामपुर नाम का वर्तमान है जिसे श्यामपुर भी कहते हैं। सोरों के किसी सज्जन के पास 'सूकरक्षेत्र-माहात्म्य', 'वर्षफल' तथा 'रामचरितमानस' की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित हैं, जिनमें से प्रथम के अंत में उसके रचयिता कृष्णदास ने अपनी वंशावली दी है। उससे पिता चलता है कि वह रामपुर वाले नंददास का ही पुत्र था। उस वंशावली से इतना और भी प्रकट होता है कि नंददास के पिता जीवाराम आत्माराम (तुलसीदास के पिता) के छोटे भाई थे, नंददास के भाई का नाम चंद्रहास था और उनका वंश 'सुकुल' प्रसिद्ध था। तुलसीदास का प्रसिद्ध 'रामचरितमानस'-रचयिता तुलसीदास होना तथा नंददास का वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित होना तक इस ग्रंथ से प्रमाणित होता है।[९] उक्त दूसरा अर्थात् 'वर्षफल' ग्रंथ भी कृष्णदास की ही रचना है और इसमें भी उपर्युक्त वंशावली संबंधी कुछ संकेत मिलते हैं। इस रचना से इतना और भी स्पष्ट हो जाता है कि रामपुर को बदलकर श्यामपुर नाम संभवतः नंददास ने ही रखा था।[१०] तीसरा ग्रंथ केवल खंडित रूप में है और उसमें बाल, अयोध्या तथा अरण्यकांड के ही अंश विद्यमान हैं, किंतु उसकी अरण्यकांड वाली पुष्पिका से पता चलता है कि वह प्रति उक्त कृष्णदास के ही लिये लिखी गई थी, जो सोरों के निवासी थे। बालकांड की पुष्पिका में कृष्णदास को 'नंददास-पुत्र' भी बतला दिया है। 'रामचरितमानस' की ये खंडित प्रतियाँ वि० १६४३, शाके १५०८ में लिखी कही

८—वही, पृष्ठ १२४

९—डा० दीनदयालुगुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' (सम्मेलन, प्रयाग), पृष्ठ ६०१ पर उद्धृत अंश के आधार पर।

१०—वही, पृ० ६०३

गई हैं। इसी प्रकार उक्त 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' का रचना-काल "सोरह सौ सत्तर प्रमित सम्वत्" तथा 'वर्षफल' का "सोरह सौ सत्तामनि विक्रम के वर्ष" दिया हुआ है[11] और इन तीनों संवतों अर्थात् सं० १६४३, १६५७ एवं १६७० से प्रतीत होता है कि इन कृष्णदास का जीवन-काल विक्रम की सतरहवीं शताब्दी है। अतएव, यदि ये सभी प्रतियाँ प्रामाणिक हैं तो कृष्णदास के पिता नंददास का जीवन-काल भी उसी में वा कुछ पहले हो सकता है।

'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास का समय वि० १६४० एवं १६८० के बीच समझा जाता है, जिससे वे उक्त कृष्णदास के समकालीन सिद्ध होते हैं और उनके उपर्युक्त कथन के अंतर्गत आनेवाले 'रामपुर', 'चंद्रहास' आदि के संकेतों की पुष्टि हो जाती है। फिर भी कृष्णदास की रचनाओं द्वारा जो प्रश्न तुलसीदास की जीवनी के संबंध में उठता है उसका समाधान नहीं होता। तुलसीदास के जीवन-चरित से संबंध रखनेवाले कई ग्रंथों का पता इधर चला है, जो प्रधानतः दो भिन्न-भिन्न मतों के हैं। 'मूल गुसाईं चरित्र' से विदित होता है कि वे राजापुर, जिला बाँदा के मूल निवासी थे और कोई 'नंददास कनौजिया' उनके गुरुभाई थे जो उनसे इसी नाते बड़े प्रेम-भाव के साथ मिले थे—

नंददास कनौजिया प्रेममदे। जिन सेष सनातन तीर पढ़े॥
सिच्छा गुरु बंधु भये तेहिते। अति प्रेम सो आय मिले महिते॥[12]

यह घटना क्रमानुसार सं० १६४६ के पीछे की जान पड़ती है। उधर तुलसीदास की पत्नी कही जानेवाली रत्नावली विषयक 'रत्नावली-चरित्र' से प्रकट होता है कि तुलसीदास तथा नंददास दोनों, रामपुर के किसी सनाढ्यवंशी पितामह के पौत्र थे और एक साथ पढ़ते थे—

तहाँ रामपुर के सनाढ्य। शुकुल वंश घर द्वै गुनाढ्य॥
तुलसीदास अरु नंददास। पढ़त करत विद्या विलास॥
एक पितामह पौत्र दोउ। चंद्रहास लघु अपर सोउ॥[13]

११—डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' (सम्मेलन, प्रयाग) पृष्ठ ६०४ पर उद्धृत।

१२—वेणीमाधवदास, 'मूलगुसाईंचरित' (गीता प्रेस गोरखपुर), पृष्ठ २६

१३—डा० दीनदयालु गुप्त, 'अष्टछाप और वल्लभ-संप्रदाय' (सम्मेलन प्रयाग), पृष्ठ ८९९ पर उद्धृत।

इससे उक्त कृष्णदास संबंधी मत की पुष्टि होती है। इस प्रकार तुलसीदास और नंददास का समकालीन एवं गुरुभाई तक होना सिद्ध किया जा सकता है, किंतु अन्य बातें संदिग्ध रह जाती हैं। नंददास के जीवनवृत्त का आधार समझी जानेवाली सभी सामग्रियों की अभी तक पूरी परीक्षा नहीं की जा सकी है। किंतु उपलब्ध ग्रंथों तथा संकेतों के साक्ष्य पर जो उनका जीवन-काल वि० १५६० से १६३९ तक अनुमान किया जाता है[१४] वह तथ्य से अधिक दूर नहीं जान पड़ता और उसे तब तक स्वीकार कर लिया जा सकता है।

नंददास की रचनाओं के संबंध में नाभादास ने लिखा है कि ये 'लीलापद' एवं 'रसरीति' के ग्रंथों के निर्माण में निपुण थे। परंतु उन्होंने ग्रंथों के नाम नहीं दिए हैं और न अन्य किसी संकेत के आधार पर उनकी वास्तविक संख्या का पता चलता है। परंपरानुसार इनके अट्ठाईस ग्रंथों तक के नाम सुने जाते हैं जिनमें से सभी उपलब्ध नहीं हैं। और जो मिलते हैं उनमें से भी सभी की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं। नंददास 'अष्टछाप' के कवि एवं वल्लभ-मतानुयायी कृष्ण-भक्त थे। अतएव इनकी रचनाओं में प्रधानता कृष्णभक्ति के ही विषय की पाई जाती है और उसके अनंतर कृष्ण-लीला की चर्चा मिलती है। किंतु, जैसा कि इनके जीवनवृत्त की कतिपय बातों से प्रकट होता है, ये एक पूरे रसिक जीव भी रह चुके थे, इसलिये इनकी कुछ रचनाओं में रस एवं पांडित्य का भी वर्णन हुआ है और इन्होंने अपनी एकाध पुस्तकों में कोश का विषय ला दिया है। जान पड़ता है इन्होंने सर्वप्रथम, रसरीति एवं कोश विषयक ग्रंथों की ही रचना की थी और उसके पीछे क्रमशः कृष्ण-लीला तथा कृष्ण-भक्ति पर लिखा था। फलतः इनके चौदह ग्रंथों का रचना-क्रम इस प्रकार दिया जा सकता है—(१) रसमंजरी, (२) अनेकार्थमंजरी, (३) मानमंजरी वा नाममाला, (४) दशम स्कंध भाषा, (५) श्याम सगाई, (६) गोवर्धनलीला (७) सुदामाचरित्र (८) विरहमंजरी (९) रूपमंजरी (१०) रुक्मिणी मंगल (११) रास पंचाध्यायी (१२) भँवरगीत (१३) सिद्धांत पंचाध्यायी तथा (१४) पदावली। इनमें से 'पदावली' वस्तुतः किसी एक समय की ही रचनाओं का संग्रह नहीं मानी जा सकती। इनके ये सभी ग्रंथ ग्रंथावली के रूप में काशी एवं प्रयाग से प्रकाशित हो चुके हैं और इन सभी के विषय में अनेक बार न्यूनाधिक चर्चा की जा चुकी है।

१४—वही, पृष्ठ २६१-२

२

नंददास की उपर्युक्त रचनाओं में से इनकी 'रास पंचाध्यायी' एवं 'भँवरगीत' अधिक प्रसिद्ध हैं। अन्य के बहुत लोग नाम तक नहीं जानते और न उनके संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त करने की कभी उत्सुकता ही प्रदर्शित करते हैं। फिर भी किसी न किसी दृष्टि से ये सभी महत्त्वपूर्ण हैं और हिंदी-साहित्य की भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन रचनाओं में इन्हें अच्छा स्थान दिया जा सकता है। नंददास की ग्रंथावली के अंतर्गत इनकी पाँच ऐसी रचनाएँ आती हैं जिनके अंत में 'मंजरी' शब्द लगा हुआ है। इसी कारण ये कभी-कभी 'पंचमंजरी' नाम से अभिहित की जाती हैं और इस नाम से इनका प्रकाशन भी किया जा चुका है। इन पाँचों अर्थात् 'रसमंजरी', 'अनेकार्थमंजरी', 'मानमंजरी', 'विरहमंजरी' एवं 'रूपमंजरी' का एक संग्रह सर्वप्रथम सं० १६४५ वि० में जगदीश्वर प्रेस, बंबई से छपा था और फिर इन्हीं का प्रकाशन सरस्वती प्रेस, बंबई से सं० १६७३ में भी हुआ था। इनके किसी एक संग्रह का अहमदाबाद से भी प्रकाशित होना कहा जाता है, किंतु उसका कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। इन पाँचों में से 'रसमंजरी' का वर्ण्य विषय नायक-नायिका-भेद है और यह संभवतः किसी भानु कवि की संस्कृत रूपमंजरी का रूपांतर है। 'अनेकार्थमंजरी' का दूसरा नाम 'अनेकार्थमाला' भी है और उसमें एक-एक शब्द के कई भिन्न-भिन्न अर्थ दिए गए हैं। 'मानमंजरी' का भी इसी प्रकार एक दूसरा नाम 'नाममाला' है और उसमें पर्यायवाची शब्दों का संग्रह है। किंतु उसकी एक विशेषता यह है कि उसमें मानिनी राधा का भी वर्णन आ जाता है। 'विरहमंजरी' के अंतर्गत एक व्रजांगना की विरहदशा का वर्णन है जो अधिकतर रूढ़िगत विरह-वर्णनों के ही अनुसार है। परंतु इन पाँचों में सबसे उत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण का वर्णन एक आख्यानक के द्वारा किया गया है। इस रचना की एक अन्य विशेषता यह भी है इसमें ग्रंथ-रचयिता के व्यक्तिगत जीवन एवं सिद्धांतों पर भी पूरा प्रकाश पड़ता है तथा इसे हम हिंदी की प्रेमाख्यान-परंपरा के उदाहरण में भी प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्रेमाख्यान-परंपरा नंददास के बहुत पहले से चली आ रही थी और इसके एक से अधिक रूप थे। राजस्थान एवं पंजाब की ओर यह प्रचलित लोकगीतों के रूप दिखाई पड़ती थी और कहीं-कहीं इसका रंग-ढंग पौराणिक रचनाओं का भी रहा करता था। हिंदी-साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक युग में इसे हम कभी-कभी किसी ऐतिहासिक नायक और उसकी नायिका की प्रेमगाथा के रूप

में भी पाते हैं और अन्यत्र यह किसी प्रेमी वा प्रेमिका द्वारा भेजे गए संदेशों की कथा के रूप में दिखाई पड़ती है। ऐसे प्रेमाख्यानों के उदाहरण में हम 'ढोला मारवणी', 'ससि पूनो', 'शाकुंतल आख्यान', 'बीसलदेव रासो' और 'संदेश रासक' के नाम दे सकते हैं। इनके सिवा हमें जैन साहित्य के अंतर्गत 'सदयवत्स सावलिंगा' जैसी प्रेमकथाएँ भी मिलती हैं, जिनका उद्देश्य धार्मिक है।[१५] परंतु इन सबसे प्रसिद्ध प्रेमगाथा-परंपरा मुसलमान सूफी कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ती थी। इसका आरंभ संभवतः विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में किसी समय हुआ था और इसकी सर्वप्रथम उपलब्ध रचना 'चंदायन' समझी जाती है, जिसे किसी मुल्ला दाऊद ने फारसी मसनवी के ढंग पर हि० सन् ७८१ अर्थात् सं० १४३६ में लिखा था। तब से हिंदी में इस प्रकार की रचनाओं की एक नियमित परंपरा-सी चल निकली और नंददास के समय तक इसमें कुतबन की 'मिरगावति' (सं० १५६०), जायसी की 'पदुमावति' (सं० १५९७), मंझन की 'मधुमालति' (सं० १६०२) एवं 'रज्जन' की 'प्रेमवन जोव निरंजन' जैसी रचनाएँ प्रस्तुत होने लगीं। 'मधुमालति' की कथा को लेकर सं० १६०० के लगभग किसी कवि ने एक रचना भारतीय पद्धति के अनुसार भी की थी। फिर उसी ढंग की कहानियाँ पीछे चलकर शेख आलम, चतुर्भुजदास कायस्थ, बोधा कवि आदि ने भी रच डालीं। इस प्रकार नंददास के सामने उस समय उद्देश्य के अनुसार, प्रधानतः दो प्रकार की प्रेम-कहानियों का आदर्श था। एक वर्ग की कथाएँ केवल साहित्यिक, सामाजिक वा पौराणिक रूप में रहा करती थीं और दूसरे वर्ग की कहानियों का उद्देश्य धार्मिक प्रचार भी रहा करता था। जैन साहित्य एवं सूफी साहित्य में इस दूसरे वर्ग की प्रेमगाथाओं की परंपरा चल चुकी थी, वैष्णव-साहित्य में नहीं थी। नंददास ने इसे, कदाचित् सर्वप्रथम, अपनी प्रेमा भक्ति के निरूपणार्थ अपनाया और इसके लिये 'रूपमंजरी' की रचना की। इसमें इन्होंने न केवल प्रेम-कहानी के विषय का ही आधार लिया, अपितु उसका वह ढाँचा भी अपनाया जो सूफियों के यहाँ दोहा-चौपाई से निर्मित हुआ था।

'रूपमंजरी' का कथानक बड़ा नहीं है, और न उसके किसी अंग को अधिक विस्तार दिया गया है। उसमें केवल एक रूपवती स्त्री का, लौकिक प्रेम का परित्याग करके श्रीकृष्ण के प्रति अलौकिक प्रेम में लग जाना मात्र दिखलाया

१५—अगरचंद नाहटा, 'राजस्थान भारती' (सं० २००७), पृ० ४१-६६

गया है। कथा का सारांश इस प्रकार दिया जा सकता है—निर्भयपुर के राजा धर्मधीर की पुत्री का नाम रूपमंजरी था और वह अत्यंत सुंदरी थी। जब वह विवाह के योग्य हुई तो उसके माता-पिता ने उसके अनुरूप कोई सुयोग्य वर ढूँढने का विचार किया। तदर्थ उन्होंने इस काम को किसी ब्राह्मण के सपुर्द किया जो लोभी और विवेकहीन था। उसने रूपमंजरी का विवाह किसी 'क्रूर' और 'कुरूप' वर से करा दिया। रूपमंजरी के माता-पिता को इसका बहुत दुःख हुआ और वह स्वयं भी अपने पति से उदासीन रहने लगी। उसकी एक सखी थी जिसका नाम इंदुमती था। वह उसके सौंदर्य पर मुग्ध थी तथा उसे प्यार भी करती थी। इंदुमती सदा इस चिंता में रहने लगी कि किस प्रकार उसकी सखी को कोई साधन उसके कष्टों के निवारणार्थ मिल जाय। इस लोक में उसे रूपमंजरी के अनुरूप कोई पति दिखाई नहीं पड़ा, पर बिना किसी उपयुक्त पति के उसे पूर्ण शांति नहीं मिल सकती थी। अतएव उसने श्रीकृष्ण के अलौकिक रूप की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करने के प्रयत्न किए और उनके प्रति उसके भीतर प्रेमभाव जाग्रत् करके उन्हें उपपति के रूप में वरण कर लेने के लिये उसे उत्साहित भी कर दिया। इंदुमती श्रीकृष्ण भगवान् से सदा इस बात की प्रार्थना करती रही कि मेरी सखी पर कृपा कीजिए। रूपमंजरी ने श्रीकृष्ण को स्वप्न में देखा और वह उनके रूपलावण्य पर आसक्त होकर उनके विरह में मरने लगी। इंदुमती ने उसे सांत्वना देकर बारबार आशान्वित किया। फिर दूसरे स्वप्न में उसे उनके साथ संयोग का भी सुख मिल गया जिससे वह आनंद-विभोर हो गई। अंत में वह एक दिन अपनी सखी से भी छिपकर वृंदावन चली गई, जहाँ उसे ढूँढती हुई इंदुमती भी पहुँच गई और दोनों का निस्तार हो गया।

नंददास ने इस कहानी के आधार पर अपना आख्यानक आरंभ करने के पहले ही कह दिया है—

परमप्रेम पद्धति इक आही। "नंद" जथामति बरनत ताही॥

और फिर यह भी कहते हैं—

अब हौं बरनि सुनाऊं ताही। जो कछु मो उर अंतर आही॥

जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये कोई काल्पनिक कथा ही कहने जा रहे हैं। फिर भी कुछ लोग, 'रूपमंजरी' नाम की समानता के कारण, इस प्रेमाख्यान की नायिका को अकबर की लौंडी मानकर ही चलना चाहते हैं और कथानक को

प्रत्येक बात को उसके जीवनवृत्त के भीतर ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। उनका अनुमान है कि ब्राह्मण ने रूपमंजरी का विवाह अकबर से अथवा उसके किसी दरबारी के साथ करा दिया था, जो उसे तथा उसके माता-पिता को अनुचित जान पड़ा था। इसी कारण रूपमंजरी को दुःख का अनुभव हुआ और वह अपनी सखी अथवा मित्र नंददास की सहायता से कृष्ण-भक्त बन गई। परंतु इस बात का कोई भी संकेत आख्यानक में नहीं दिखाई पड़ता। केवल नंददास इंदुमती के रूप में प्रयत्न करते जान पड़ते हैं। यह संभव है कि रूपमंजरी अकबर के यहाँ की कोई रूपवती दासी रही हो, जो अंत में श्रीनाथ जी की सेविका भी बन गई हो। ऐसी दशा में उसका नंददास के साथ गाढ़ा परिचय हो जाना और उनकी सहायता से पूर्णतः सुधर जाना असंभव नहीं है।

आख्यानक में कवि ने सर्वप्रथम 'प्रेममय परम जोति' के नित्य स्वरूप की वंदना की है और फिर प्रेम-पद्धति का परिचय दिया है। उसका कहना है कि उस 'रूपनिधि' तक पहुँचने के लिये दो मार्ग हैं जिनमें से एक 'नाद' का है और दूसरा 'रूप' का। रूप का मार्ग अमृत एवं विष दोनों से व्याप्त है, अतएव जो 'नीरक्षीर विवेक' की सहायता लेता है वही भगवान तक पहुँच पाता है। कवि ने इस रूप-मार्ग के अमृतमय पक्ष को ग्रहण कराने के उद्देश्य से ही आख्यानक की सृष्टि की है। इसका आरंभ निर्भयपुर और उसके राजा धर्मधीर के प्रशंसात्मक वर्णन से होता है और फिर वहाँ की राजकुमारी के सौंदर्य का बड़ा ही सरस विवरण दिया जाता है। तदनंतर थोड़े से शब्दों द्वारा धर्मधीर तथा उसकी रानी के उसके लिये योग्य वर की खोज कराने की चर्चा करा दी जाती है। कह दिया जाता है कि उनके विप्र ने धन-लोभ के कारण उसे किसी 'कूर कुरूप कुँवर' के साथ ब्याह दिया। फलतः इस अनमेल संबंध के कारण वह सदा खिन्न रहने लगती है और उसकी सहचरी इंदुमती भी उसके यौवनोचित सौंदर्य की अभिवृद्धि से प्रभावित होकर उसकी सहानुभूति में उसके लिये ईश्वर से प्रार्थना करने लगती है। धीरे धीरे वह 'गिरिधर कुवर' श्रीकृष्ण को ही उसके लिये सर्वथा अनुकूल वर मानकर उसका ध्यान उस ओर आकृष्ट करना चाहती है।

तदनुसार एक दिन इंदुमती रूपमंजरी को "गिरिगोधन" जाकर "गिरिधर पिय" की "प्रतिमा" दिखला आती है, जिसके प्रभाव में पड़कर किसी रात को सोते समय वह अपनी चित्रसारी में स्वप्न देखती है कि मेरे ही अनुकूल "इक सुंदर नाइक" आकर मेरे "अधर" का खंडन करता

है। वह "सितकार" करके इंदुमती के उन्मुख हो जाती है और और उसकी दशा देखकर सभी घबड़ा उठती हैं। वह अपने प्रियतम के लावण्य का भरपूर वर्णन नहीं कर पाती और उसके वियोग में मतवाली-सी बनी डोलने लगती है। इंदुमती को इससे महान् आश्चर्य होता है। वह इसे अपनी सखी का परम सौभाग्य मानती है और उसे क्रमशः वर्षा,शरद,हेमंत,शिशिर, वसंत एवं ग्रीष्म ऋतुओं में विविध प्रकार की सांत्वना देती हुई उसकी अनुरक्ति को दृढ़तर करती चलती है। अंत में रूपमंजरी एक रात को फिर स्वप्न में देखती है कि वही पूर्वपरिचित प्रियतम यमुना नदी के किनारे हाथ में वंशी लिए खड़ा है। वह इसे आकर गले लगा लेता है। अपने कुंज में ले जाता है। "सुपेसल सेज" पर सुलाता है और दोनों का "प्रथम समागम" निष्पन्न हो जाता है। फिर वह लौटकर घर आती है। श्री ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित 'नंददास-ग्रंथावली' की 'रूपमंजरी' के पाठानुसार उसकी "संगति" से इंदुमती भी सुधर जाती है। किंतु सरस्वती प्रेस, बंबई की प्रति के अनुसार नायिका रूपमंजरी फिर कृष्ण के नित्य रास में भी प्रवेश कर जाती है और उसकी खोज में घूमती हुई इंदुमती अंत में उसी रास में उससे भेंट कर पाती है। फिर उस प्रति में कवि ने रूपमंजरी के कुछ अलंकारों का भी वर्णन किया है।

३

'रूपमंजरी' के कथानक तथा उस आख्यानक के अंतर्गत पाए जानेवाले उसके विकसित रूप से भी यह कहीं नहीं लक्षित होता कि उसके रचयिता का उद्देश्य कथा-भाग को किसी प्रकार का महत्त्व देना है। निर्भयपुर नायिका की जन्मभूमि एवं उसका क्रीड़ा-स्थल होते हुए भी केवल आरंभ में एक झलक दिखलाकर फिर कहीं विलीन हो जाता है। उसके माता-पिता उसके लिये योग्य वर की चिंता करते हैं, किंतु एक विप्र के मूर्खतापूर्ण कार्य पर संतोष कर सदा के लिये बैठ जाते हैं। रूपमंजरी के "क्रूर कुरूप" पति का प्रसंग केवल नाम मात्र के लिये ही आया विदित होता है। उसकी सखी इंदुमती उसके प्रति बड़े विचित्र ढंग से सहानुभूति प्रदर्शित करती है और प्रत्यक्ष रूप से उसके लिये बहुत कम कार्य करती हुई जान पड़ती है। इस प्रबंध-रचना में वस्तुतः केवल दो ही पात्र हैं—इसकी नायिका रूपमंजरी तथा उसकी सहचरी इंदुमती। इसके नायक श्रीकृष्ण कभी प्रत्यक्ष आते नहीं जान पड़ते और उनके सभी कार्य अत्यंत गौण रूप से स्वप्न-लोक में होते हैं। इस

रचना के अंतर्गत घटना-चक्र का वैसा कोई महत्त्व ही नहीं है। कथावस्तु की प्रमुख पात्री रूपमंजरी का चरित्रचित्रण भी एकांगी ही दिखाई पड़ता है और दृश्य कोरे उद्दीपन के लिये आते हैं।

कवि ने नायिका का सौंदर्य-वर्णन करते समय अपने कला-नैपुण्य का अच्छा परिचय दिया है। वह उसके नाम 'रूपमंजरी' के अनुसार उसके रूपगत सौंदर्य की ओर ही अधिक आकृष्ट है। उसके बालपन का रूप चित्रित करता हुआ वह कभी उसे "जनु हिमवतवारी" अर्थात् पार्वती-सी सुंदर कहता है तो कभी "दुसरी मनहुँ समुद की बेटी" कहकर उसे लक्ष्मी की भाँति सर्वलक्षण-संपन्न ठहराता है और उसकी दीप्ति से ही उसके भवन का सदा प्रकाशित रहना बतलाता है। कवि के अनुसार उसका बालरूप एक ऐसा मनोहर दीपक है जिसपर नर-नारियों के नेत्र सदा पतंग बनकर घिरते रहते हैं। फिर अज्ञातयौवना बनकर जब वह सरोवर में स्नान करती है तो भ्रमर फूलों को छोड़कर उसके मुखकमल की ओर दौड़ पड़ते हैं। उसका रंग तपे स्वर्ण के समान गौर है, उसकी आँखें खंजन, मृग एवं मीनवत् चंचल हैं। वह इतनी कोमल है कि पान की पीक उसके कंठ से होकर झलकती है। कवि ने रूपमंजरी के सौंदर्य का वर्णन करते समय द्युति, लावण्य, रूप, माधुर्य, कांति, रमणीयता, सुंदरता, मृदुता एवं सुकुमारता में से प्रत्येक को उसके शरीर का अंगीभूत मान लिया है और उन सभी का वर्णन पृथक्-पृथक् किया है। जैसे—

> **दुति** तिय तन अस दीन्हि दिखाई। सरद चंद जस झलमलताई ॥
> ललना तन **लावन्य** लुनाई। मुकता फल जस पानिप झाँई ॥
> बिनु भूषन भूषित अँग जोई। **रूप** अनूप कहावै सोई ॥
> निरखत जाहि तृपति नहि आवै। तन मैं सो **माधुरी** कहावै ॥
> ठाढ़ी होति अँगन जब आई। **तन की जोति** रहति छिति छाई ॥
> राजति राजकुँवरि तहँ ऐसी। ठाढ़ी कनक अवनि पर जैसी ॥
> देखत अनदेखी सी जोई। **रमनीयता** कहावै सोई ॥
> सब अँग सुमिल सुठौनि सुहाई। सो कहिए तन **सुंदरताई** ।
> अमल कमल दल सेज बिछैये। ऊपर कोमल बसन डसैये ॥
> तापर सोवत नाक चढ़ावै। सो वह **सुकुमारता** कहावै ॥[१६]

१६—नंददास ग्रंथावली (ब्रजरत्नदास संपादित), पृष्ठ १२४

कृष्ण के सौंदर्य का वर्णन कवि ने दो स्थलों[१७] पर किया है, जिनमें से दूसरी जगह उनके ईश्वरत्व के अनुकूल है और ऐश्वर्य के रूप में है। नंददास का प्रेमिका के रूप-लावण्य पर उसके प्रियतम के सौंदर्य से अधिक ध्यान देना एक अनोखी-सी बात है और इसका समाधान केवल इसी बात से हो सकता है कि उसे अपने पति की 'क्रूरता' और 'कुरूपता' के विपरीत परम रूपवती सिद्ध करना है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि आख्यानक नंददास के आत्मचरित का ही एक अंश है और ये अपनी प्रेयसी रूपमंजरी पर आसक्त हो चुकने के कारण उसका रूप-वर्णन करते समय अपने को सँभाल नहीं सके हैं।

आख्यानक में उपर्युक्त सौंदर्योपासना-विषयक वर्णनों के अतिरिक्त एक अन्य विशेषता "उपपति रस" पर बल देने की है। अपने "क्रर-कुरूप" पति से असंतुष्ट रूपमंजरी को उसकी सखी इंदुमती इसी रस के प्रयोग द्वारा सुखी बनाना चाहती है। वह कहती है,—

रसनि मैं जो उपपति रस आही। रस की अवधि कहत कवि ताही॥
सो रस जो या कुँवरिहि होई। तौ हौं निरखि जिऊँ सुख सोई॥[१८]

अर्थात् कवियों द्वारा 'जार-भाव' के रूप में प्रदर्शित माधुर्य-भाव प्रेमरस की पराकाष्ठा का द्योतक है और वही रूपमंजरी के लिये ठीक है। इस "उपपति रस" का भाव, सर्वप्रथम, श्रीकृष्ण की 'प्रतिमा' के आधार पर जाग्रत् होता है। फिर स्वप्न-दर्शन द्वारा उसका विकास होता है तथा गुणश्रवण की सहायता से वह रूपमंजरी के हृदय में सदा के लिये घर कर लेता है। यह "उपपति रस" एक विवाहिता की ओर से किसी अन्य पुरुष के प्रति उद्दिष्ट होने के कारण सर्वथा निंदनीय समझा जा सकता था। किंतु यहाँ पर यह किसी लौकिक पुरुष की अपेक्षा नहीं करता। इसका संबंध उस "कुँवर कन्हाई" से है जो अलौकिक है—

घर अंबर ससि सूरज तारे। सर सरिता साइर गिरि भारे॥
हम तुम अरु सब लोग लुगाई। रचना तिन ही देव बनाई॥[१९]

अतएव ऐसे प्रियतम के प्रति आकृष्ट और अनुरक्त रूपमंजरी को किसी सामाजिक कलंक की आशंका भी नहीं हो सकती। इसके सिवा रूपमंजरी के स्वप्न-दर्शन में

१७—वही, पृष्ठ १२६ और १३७

१८—वही, पृष्ठ १२४–२५

१९—वही, पृष्ठ १३७

उस "नव किशोर" के आसपास की "द्रुम-बेलियों" तक उसे अपनी "मीत"-सी जान पड़ती है,[20] जिससे प्रतीत होता है कि वह उसका मूलतः आत्मीय है और ऐसी दशा में उक्त लांछन के लिये यहाँ कोई स्थान ही नहीं है। रूपमंजरी को इस दशा में पाकर हमारा ध्यान एक बार मीराबाई की ओर भी आकृष्ट हो जाता है जिसका कृष्ण-प्रेम गिरधर गोपाल की किसी मूर्ति को ही देखकर उसके बचपन में जाग्रत् हुआ था, फिर उसके अपने पति की ओर से क्रमशः उदासीन होते जाने के कारण, तथा संभवतः उन्हें स्वप्न-दर्शन में भी पाकर, वह दृढ़तर होता गया था। मीराबाई के हृदय में भी किसी पूर्व-परिचय का भाव बना रहा करता था, किंतु उसे रूपमंजरी की भाँति किसी से सहायता नहीं मिली, अपितु सदा उसे विरोधों का ही सामना करना पड़ा। पता नहीं, नंददास को अपने इस आख्यानक की रचना करते समय गिरिधर की ही उस दूसरी प्रेमिका का ध्यान था वा नहीं। दोनों का प्रेमभाव पूर्वराग से आरंभ होता है, दोनों अपने पति की ओर उपेक्षा का भाव रखती हैं। दोनों दशाओं में कृष्ण-रूप का वर्णन प्रायः एक ही सा जान पड़ता है। दोनों का माधुर्य-भाव दृढ़ एवं एकनिष्ठ है और दोनों अंत में अपने प्रियतम के साथ मिलकर कृतकृत्य हो जाती हैं। एक अपना वर्णन स्वयं करती है, किंतु दूसरी की प्रेमगाथा उसकी उस सहचरी के द्वारा कही जाती है जो उसकी सभी प्रकार से आत्मीय तथा पथ-प्रदर्शिका भी है।

नंददास के इस आख्यानक में प्रेमगाथा-परंपरा की सूफी-पद्धति की भाँति कथा-रूपक की भी एक झलक मिल सकती है। कवि ने जो इसमें स्थान एवं व्यक्ति के नाम दिए हैं वे प्रायः सभी किसी न किसी रूप में सार्थक-से जान पड़ते हैं। 'निर्भयपुर' का नाम पढ़ते ही हमें किसी साधक वा भक्त के चित्त की शांत, द्विविधा-हीन स्थिति का भान होने लगता है। वहाँ के राजा 'धर्मधीर' का नाम पढ़कर हमें जान पड़ता है कि कवि उस भक्त के लिये स्वधर्म के आधार पर धीरचित्त होकर साधना में प्रवृत्त होना अत्यंत आवश्यक समझता है। इसी प्रकार जिस कृष्ण के साथ कवि रूपमंजरी का संयोग कराना चाहता है उसे वह परमात्मा से अभिन्न एवं ज्योतिर्मय कहता है। इसलिये कथा के आरंभ में उसे 'रूपनिधि' नाम दे देना हमें इस बात को समझने के लिये पहले से ही तैयार कर देता है कि आगे आनेवाला नायिका का 'रूपमंजरी' नाम भी यथार्थतः उसके उक्त परमात्मा का एक अंश वा

२०—'नंददास ग्रंथावली' (ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित), पृष्ठ १३७

आत्मा होने की सूचना देता है, जिससे हमें उनके अंतिम मिलन में संदेह करने का कोई कारण नहीं रहता। रूपमंजरी की सहचरी का 'इंदुमती' नाम भी कदाचित् उसके सांसारिक तमोमय संबंधों की ओर से रूपमंजरी की आसक्ति हटाकर उसे उचित पथ-प्रदर्शन द्वारा कल्याण की ओर उन्मुख और उद्योगशील बना देने के कारण ही है। अतएव कथानक को उक्त प्रकार से रूपक का रूप दे देने पर प्रतीत होगा कि कवि का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक है। वह अपनी रचना द्वारा इस बात को प्रतिपादित करना चाहता है कि भक्त को भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के लिये चाहिए कि वह शांतचित्त होकर उस 'रूपनिधि' की विधिवत् उपासना धैर्य-पूर्वक करता चले और अपने शुभचिंतक गुरु के सदुपदेशों का भी अनुसरण करे। उस दशा में उसके हृदय में सांसारिक प्रपंचों की ओर से आपसे आप विरक्ति हो जाती है और समय-समय पर स्वयं भगवान् भी उसे सहायता देने लगते हैं जिससे उत्साहित होकर अंत में वह अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेता है।

परंतु फिर भी इसकी कथा में सूफी कहानियों में प्रदर्शित साधकों की उन कठिनाइयों का सर्वथा अभाव है जिनके कारण उनके प्रतीक नायकों पर अनेक प्रकार के संकट आ पड़ते हैं और वे उन्हें झेलने को विवश होते हैं। सूफी-प्रेम-गाथा के प्रेमी जंगलों में भटकते हैं, समुद्रों पर तिरते फिरते हैं, युद्धों में घायल होते हैं, अपनी प्रेमपात्री से मिलकर भी बारबार बिछुड़ जाते हैं और कष्ट सहते-सहते उनकी दशा दयनीय सी हो जाती है। किंतु प्रेमिका रूपमंजरी ऐसी बाधाओं से मुक्त है। उसे इस प्रकार की स्थिति में पड़ने की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसका प्रेमपात्र परोक्ष में रहता हुआ भी उसके लिये प्रत्यक्ष हो जाया करता है और यदि वह उससे वियुक्त भी होता है तो जैसे जान-बूझकर और उसके आत्म-विकास के लिये ही। इसके सिवा, सूफी-परंपरा द्वारा स्वीकृत आदर्श के अनुसार साधक को किसी पुरुष के रूप में चित्रित किया जाता है और उसके साध्य भगवान् को स्त्री के रूप में। परंतु 'रूपमंजरी' की प्रेम-कहानी इसके विपरीत मार्ग को ग्रहण करती है और इसका साधक पुरुष न होकर स्त्री-रूप में है। इसमें प्रेमिका रूपमंजरी ही अपने लौकिक पति से विरक्त होकर उस अलौकिक को अपनाने के लिये आतुर हो उठती है, जो भारतीय परंपरा के अनुकूल है। इसी प्रकार इस कहानी में किसी गुरु या पथप्रदर्शक का भी पता नहीं चलता। इसकी नायिका को परामर्श देनेवाली उसकी एक सखी है जो उसके साधना-मार्ग की सफलता के रहस्य से स्वयं परिचित

नहीं। उसे रूपमंजरी को प्राप्त स्वप्न-दर्शन से आश्चर्य हो जाता है और वह सोचने लगती है—

> अनेक जनम जोगी तप करै। मरि पचि चपल चित्त कहुँ धरै ॥
> सो चितु लै उहि ओर चलावै। तौ वह नाथ हाथ नहिं आवै ॥
> अब गोपिन को सो हित होई। तब कहुँ जाय पाइये सोई ॥
> कवन पुन्य या तिय कै माई। नंद सुवन पिय सौं मिलि आई ॥ २१

वास्तव में 'रूपमंजरी' के आख्यानक में कथा-रूपक की वह दुहरी प्रवृत्ति ही नहीं जो दो भिन्न भिन्न रूपों में समानांतर बढ़ती हुई लक्षित हो।

'रूपमंजरी' की रचना का उद्देश्य "परम प्रेम पद्धति" का वर्णन करना है जिसे नंददास ने उसके आरंभ में ही स्पष्ट कर दिया है। परंतु ये इसे सूफी कवियों के अनुकरण में किसी काल्पनिक वा ऐतिहासिक प्रेमाख्यान का आधार लेकर नहीं कहना चाहते। किसी प्रेम-कहानी का सांगोपांग विवरण देकर उसपर क्रमशः अपने प्रतिपाद्य विषय को घटाना इनका लक्ष्य नहीं है। इनकी रचना की कथावस्तु सीधी-सादी और छोटी सी है और कवि को उसका विकास भी अभीष्ट नहीं, जिसके लिये घटनाचक्रों का निर्माण आवश्यक हो। आख्यानक की जो नायिका वा मुख्य पात्री है वही रूपमंजरी नंददास की अभीष्ट प्रेमा-भक्ति की वास्तविक साधिका भी है। उसके माता-पिता वा जन्म-स्थान का परिचय तथा उसके जीवन-संबंधी साधारण व्यापारों के विवरण देना अनिवार्य नहीं। कवि केवल इसी बात को महत्त्व देना चाहता है कि वह परम रूपवती (अलौकिक 'रूपनिधि' का अंश) थी और कुरूप पति (दुःखद सांसारिक विषय) से उसे विरक्ति हो गई थी। उसके इस भाव को दृढ़तर करने तथा उसे क्रमशः भगवान् कृष्ण की ओर उन्मुख करके उनके प्रति पूर्ण अनुरक्त बना देने के लिये कवि को किसी व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है जो यहाँ उसकी सहचरी इंदुमती द्वारा पूरी हो जाती है, और स्वप्न-दर्शन एवं होली खेलनेवाली स्त्रियों के साथ उसकी बातचीत जैसी कुछ साधारण घटनाओं द्वारा उसके हृदय पर कृष्ण पूर्ण अधिकार कर लेते हैं। रूपमंजरी का इस प्रकार शीघ्र सफल हो जाना स्वयं उसकी सखी इंदुमती को भी आश्चर्य में डाल देता है और आरंभ में गुरुवत् मार्ग सुझानेवाली अंत में उसके पीछे अनुसरण करनेवाली बन जाती है।

२१—नंददास ग्रंथावली (ब्रजरत्नदास संपादित), पृष्ठ ११९

इस आख्यानक की एक अन्य विशेषता इस बात में भी है कि इसका रच-यिता इसे अपने आत्म-चरित के रूप में लिखता है। रूपमंजरी स्वयं उसी की प्रेम-पात्री है जिसका सौंदर्य-वर्णन वह जी खोलकर करता है और फिर उसके भी प्रेम-पात्र कृष्ण की ओर उसी के सहारे अग्रसर होता है। रचना के अंत में वह स्पष्ट कह देता है कि रूपमंजरी एवं गिरिधर की रसभरी लीला को वह 'निज हित' कह रहा है। उसका अपना सिद्धांत यही जानपड़ता है—

> जदपि अगम तें अगम अति, निगम कहत है जाहि।
> तदपि रंगीले प्रेम तें, निपट निकट प्रभु आहि ॥[२२]

२२—वही, पृष्ठ १४३

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'*

तुलनात्मक-अध्ययन

[श्री लालताप्रसाद दुबे]

कृष्णभक्त वैष्णव कवियों के इतिहास तथा परिष्कृत एवं सुव्यवस्थित व्रजभाषा गद्य की दृष्टि से इन दोनों वार्ताओं का विशेष महत्त्व है। चौ० वा० के लेखक गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य गो० गोकुलनाथ जी कहे जाते हैं और दो० वा० इसके पीछे की रचना मानी जाती है। परंतु इन दोनों के रचनाकाल तथा लेखकों के संबंध में अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सका है। यहाँ इनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है, जिससे इन दोनों में रोचक साम्य दिखलाई पड़ेगा। इससे प्रायः यही धारणा होती है कि दोनों रचनाओं की वार्ताएँ एक दूसरे से ली गई हैं। इन ग्रंथों में शब्द-साम्य के साथ साथ वाक्य-साम्य भी पाया जाता है।

दोनों रचनाओं का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन तीन प्रकार से किया जा सकता है—

१—दोनों वार्ताओं में वही नाम और वही घटनाएँ।

२—दोनों वार्ताओं में दूसरे नाम किंतु वही घटनाएँ।

३—दोनों वार्ताओं में वही नाम किंतु दूसरी घटनाएँ।

१—दोनों वार्ताओं में वही नाम और वही घटनाएँ

इस संबंध में निम्नलिखित वार्ताएँ तुलनीय हैं—

(१) कृष्णदास की वार्ता—यह चौ० वा० ८०, ८१ तथा दो० वा० १६४ में पाई जाती है। आगे परिशिष्ट १ के खंड (क), (ख), (ग) में क्रमशः

---

* प्रस्तुत लेख में इन दोनों ग्रंथों के लिये निम्नलिखित संकेतों का प्रयोग किया गया है—

चौ० वा०—चौरासी वैष्णवन की वार्ता।

दो० वा०—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता।

तीनों वार्ताओं से आवश्यक अंश दिए गए हैं। घटनाएँ इस प्रकार हैं—गोसाईं जी के पूछने पर कुंभनदास जी द्वारा "डेढ़ बेटा" का अर्थ बतलाना, कृष्णदास का गायों की सेवा करना, सिंह द्वारा मारा जाना और खिरक में चौ० वा० के अनुसार कुंभनदास तथा दो० वा० के अनुसार गोपीनाथदास का कृष्णदास को बछड़ा पकड़े हुए देखना।

दोनों ग्रंथों की वार्ताओं में साम्य इतना अधिक है कि कई स्थलों में शब्द-साम्य के साथ साथ वाक्य-साम्य भी पाया जाता है। नीचे लिखे साम्य के स्थल ध्यान देने योग्य हैं—

चौ० वा०—"श्री गुसाईं जी ने कह्यौ जो कुंभनदास डेढ कौ कारन कहा"।

दो० वा०—"तब आपने आज्ञा करी दोढ़ कैसे होवै"।

चौ० वा०—"कृष्णदास हैं सो श्रीनाथ जी की गायन की सेवा करत हैं तासों आधो है"।

दो० वा०—"और कृष्णदास एक सेवा करे हैं जासुं आधो बेटा है"।

चौ० वा०—"सो वे कृष्णदास श्री नाथ जी के गायन के ग्वाल हुते"।

दो० वा०—"सो वे कृष्णदास श्रीनाथ जी की गायन की सेवा करते"।

इसी प्रकार का साम्य और स्थलों पर भी पाया जाता है। अंतर केवल इतना है कि एक तो चौ० वा० में दोनों वार्ताएँ दो स्थलों पर अलग-अलग दी गई हैं—९० कुंभनदास जी तथा ९१ कृष्णदास की वार्ता है, जब कि दो० वा० में एक ही वार्ता (१६४, कृष्णदास की वार्ता) में इनका उल्लेख है। दूसरे, चौ० वा० के अनुसार कृष्णदास को बछड़ा पकड़े हुए कुंभनदास जी देखते हैं और दो० वा० के अनुसार उन्हें इस प्रकार गोपीनाथ देखते हैं।

इन वार्ताओं में मुख्य और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दोनों ग्रंथों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि एक ने दूसरे से प्रसंग लेकर अपने में मिलाया है जो निम्नांकित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है—

चौ० वा० में यह उल्लेख है—"बहुत भये तो कौन काम के यह चत्रभुजदास की वार्त्ता में लिखे गये हैं।" इन चत्रभुजदास की वार्ता चौ० वा० में कहीं नहीं आई है, बल्कि ये दो० वा० के तीसरे वैष्णव हैं। इसी प्रकार दो० वा० में (वार्ता १६४) अंतिम पंक्ति में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि "ये बात कुंभनदास जी की वार्ता में लिखी है यातें इहां लिखे नहीं है"। यह कुंभनदास जी चौ० वा० के नब्बे संख्यक वैष्णव हैं। इनकी वार्ता दो० वा० में नहीं आई है।

(२) इसी प्रकार का साम्य चौ० वा० की वार्ता ३८ (नरहर जोसी और जगन्नाथ जोसी की वार्ता) में आई हुई महीधर और फूलबाई की वार्ता, तथा दो० वा० की वार्ता २१० में लिखी महीधर और फूलबाई की वार्ता में है। ये दोनों वार्ताएँ परिशिष्ट १ के खंड (घ) तथा (क) में क्रमशः दी गई हैं। इनका विषय 'खिराल्' में बैठकर अलियान की आग बुझाना है। इन वार्ताओं में भी वाक्यों तथा शब्दों का साम्य पाया जाता है। उदाहरण स्वरूप—

चौ० वा०—"श्रीगुसाईं जी कूं अपने गृह में पधराये।"
दो० वा०—"श्रीगुसाईं जी कूं पधराय लाये।"

चौ० वा०—"जो अलियान गाँव में आग लागी।"
दो० वा०—"सो एक दिन अलियाणा में आग लागी।"

दो० वा० के लेखक ने महीधर जी और फूलबाई की वार्ता में लिखा है—"सो ये बात जगन्नाथ जोसी की वार्ता में लिखी है।" ये जगन्नाथ जोसी चौ० वा० के अड़तीसवें वैष्णव हैं। इनकी वार्ता दो० वा० में कहीं भी नहीं आई है। अतः या तो उपर्युक्त दोनों वार्ताएँ एक ने दूसरे से ली हैं अथवा दोनों ने अन्यत्र से पृथक्-पृथक् या किसी एक ही सूत्र से।

अंतर केवल इतना है कि चौ० वा० की अड़तीसवीं वार्ता में नरहर जोसी और जगन्नाथ जोसी के साथ महीधर और फूलबाई की वार्ता कुछ विस्तारपूर्वक है, और दो० वा० की वार्ता २१० मे महीधर और फूलबाई की वार्ता अलग से आने के कारण संक्षेप में है।

२—दोनों वार्ताओं में दूसरे नाम किंतु वही घटनाएँ

इस प्रकार की पाँच वैष्णवों की वार्ताएँ पाई जाती हैं। उनपर यहाँ अलग-अलग विचार किया जाता है-(१) सद्दू पांडे, मानिकचंद पांडे और इनकी स्त्री की वार्ता तथा कल्याण भट्ट की वार्ता—ये दोनों वार्ताएँ क्रमशः चौ० वा० की वार्ता ८० और दो० वा० की वार्ता २२३ में पाई जाती हैं। परिशिष्ट २ के खंड (क) और (ख) में आगे क्रमशः दोनों वार्ताओं के आवश्यक अंश दिए गए हैं। दोनों वार्ताओं में एक ही घटना—अर्थात् श्रीनाथ जी का स्वर्ण कटोरा दूध लेनेवाले के घर छोड़ आना—का विकास हुआ है। दोनों वार्ताओं में साम्य निम्नांकित प्रकार का है—

चौ० वा०—"तब सवारे भये पाछें मंगला आरती के समय भीतरिया ने देखो तो मंदिर में कटोरा नाहीं।"

दो० वा०—"फेर सवारे श्रीगुसाईं जी शृंगार करत हते जब देखे तो कटोरा नाहीं है।"

चौ० वा०—"सोने को कटोरा ले आए।"

दो० वा०—"सोना को कटोरा ले के आन्योर में गए।"

चौ० वा०—"नरो कटोरा ले आई और कह्यो जो यह कटोरा लेऊ रात्रि को लरिका भूलि आयौ है।"

दो० वा०—"तब देवका ने कही एक छोरा ले गयो है, और कटोरा घर गयो है।"

चौ० वा०—"तब सब जने बहुत प्रसन्न भए।"

दो० वा०—"तब कल्याण भट्ट सुनके बहुत प्रसन्न भए।"

अंतर केवल इन बातों में है कि चौ० वा० (वार्ता ८०) में श्रीनाथ जी दूध नरो के यहाँ पान करने गए थे, दो० वा० (वार्ता २२३) में कल्याण भट्ट की कन्या देवका के गृह; चौ० वा० में कटोरा भूलकर रखा गया है, और दो० वा० में दूध के बदले; इसके अतिरिक्त चौ० वा० में वार्ता किंचित् संक्षिप्त है और दो० वा० में कुछ विस्तृत।

(२) अच्युतदास सारस्वत ब्राह्मण की वार्ता तथा छीत स्वामी की वार्ता—दोनों क्रमशः चौ० वा० में वार्ता ६३ और दो० वा० में वार्ता २ में पाई जाती हैं। परिशिष्ट २ के खंड (ग) और (घ) में आगे क्रमशः इन दोनों वार्ताओं के आवश्यक अंश दिए गए हैं। इन वार्ताओं की रचना कदाचित् आचार्य जी तथा श्री गुसाईं जी को ईश्वर सिद्ध करने के अभिप्राय से हुई है। साथ ही श्री गुसाईं जी तथा श्रीनाथ जी का अभेद सिद्ध करना भी इनका उद्देश्य है। दोनों वार्ताओं में घटना केवल यही है कि आचार्य जी तथा गुसाईं जी मंदिर के भीतर भी दिखाई पड़ते हैं और फाटक खुलने पर बाहर भी। इन दोनों वार्ताओं में थोड़े अंतर के साथ एक ही प्रसंग का विकास हुआ है, जैसा कि निम्नांकित वाक्यों से ज्ञात होता है—

चौ० वा०—"तब अच्युतदास ने मंदिर के किवाड़ खोलि के वा वैष्णव को श्री आचार्य जी महाप्रभून के दर्शन करवाये, तब देखे तो श्री आचार्य जी महाप्रभू विराजे हैं और पोथी देखते हैं।

दो० वा०—"पाछे श्री नवनीत प्रियाजी के दर्शन करबे कुं गयो भीतर देखे तो श्री गुसाईं जी विराजे हैं और बाहर देखे तो विराजे हैं।"

(३) परमानंददास कनौजिया ब्राह्मण की वार्ता तथा राजा लाखा की वार्ता-ये क्रमशः चौ० वा० ८६ और दो० वा० २४ में पाई जाती हैं। आगे परिशिष्ट २ के खंड (क) और (च) में क्रमशः इन वार्ताओं के आवश्यक अंश दिए गए हैं। दोनों वार्ताओं में एक ही घटना पाई जाती है, अर्थात् किसी रानी के हठात् पर्दे के भीतर दर्शन करने के लिये एकाकी आने पर श्रीनाथ जी का फाटक खोल देना। चौ० (वार्ता ६) में इस विषय के तीन भिन्न-भिन्न प्रसंग आए हैं और दो० वा० (वार्ता २४) में इनमें से केवल तीसरा प्रसंग आया है। दोनों वार्ताओं में वाक्य-साम्य के साथ साथ शब्द-साम्य भी है—

चौ० वा०—"तब रानी ने कही जैसे हमारी रीति है सो होय तो दर्शन करें तब राजा ने कही जो श्री गोवर्धन दास जी के दर्शन में काहे को परदा है।"

दो० वा०—"एक दिन वाकी स्त्री ने कही जो उहाँ परदा की बंदोबस्ती होय तो मैं दर्शन करूँ। तब राजा ने कही श्री नाथ जी के यहाँ पडदा कैसो।"

चौ० वा०—"श्री गोवर्धनदास जी ने सिंहपौर के किवाड़ खोल दीए सो सब भीर दौर के रानी के ऊपरि परी।"

दो० वा०—"श्री नाथ जी ने कवांड़ खोल डारे सो अचानक रानी के ऊपर भीड़ पड़ी।"

केवल नाम-परिवर्तन का कारण यही हो सकता है कि या तो परमानंद दास जी के प्रसंगों में से यही तीसरा प्रसंग निकालकर राजा लाखा के नाम के साथ जोड़ दिया गया हो, अथवा राजा लाखा वाला प्रसंग परमानंद दास जी की वार्ता में मिला दिया गया हो ; या फिर यह भी संभव है कि दोनों वार्ताओं में यह प्रसंग अन्यत्र से लाया गया हो।

परिशिष्ट २ के शेष खंडों में घटनाओं का यह तारतम्य नहीं मिलता जो उपर्युक्त घटनाओं में पाया जाता है। घटनाएँ कुछ शब्दों के उलट-फेर तथा कहने के ढंग की भिन्नता के कारण नवीन सी मालूम होती हैं, किंतु हैं एक ही।

(४) दामोदर दास कायस्थ की वार्ता तथा मेहा धीमर की वार्ता–ये चौ० वा० की वार्ता ६८ तथा दो० वा० की वार्ता १५४ में पाई जाती हैं। इनके आवश्यक अंश आगे क्रमशः परिशिष्ट २ के (छ) और (ज) खंड में दिए गए हैं। दोनों वार्ताओं में निम्नलिखित प्रकार का वाक्य-साम्य पाया जाता है—

चौ॰ वा॰—"तब श्री ठाकुर जी महाराज ने बीरबाई सों कह्यो जो मोको तौ सेवा में बिलम्ब होय है मो को इतनी अबार भई है और कोऊ न्हात नाहीं ताते तू ही न्हाउ तब वह बीरबाई श्री ठाकुर जी के आग्रह ते उठि के प्रसूतका मे से न्हाय के कछू दे के श्री ठाकुर जी की सेवा करके पाछे भोग समर्प्यों।"

दो॰ वा॰—"तब श्री ठाकुर जी ने आज्ञा करी जो रो मति न्हायकर मेरी सेवा कर तब वे की रीति प्रमाणें न्हाय के भगवत सेवा करी।"

(५) प्रभूदास भाट की वार्ता तथा एक खंडन ब्राह्मण की वार्ता—ये क्रमशः चौ॰ वा॰ की वार्ता २६ और दो॰ वा॰ की वार्ता ६१ में पाई जाती हैं। आगे परिशिष्ट २ के खंड (क) और (ख) में क्रमशः दोनों वार्ताओं से आवश्यक अंश दिए गए हैं। इन दोनों वार्ताओं में एक ही घटना का विकास हुआ है। इनका विषय है—वैष्णवों की निंदा करनेवालों का रात्रि के समय चार आदमियों द्वारा पीटा जाना। इन वार्ताओं में भी उसी प्रकार का साम्य है जैसा उपर्युक्त वार्ताओं में है—

चौ॰ वा॰—"सो एक दिन रात्रि को सोयो हुतो तहाँ कोउ चारि जने हाथ में मुगदर लेके आये सो कीरति चौधरी को बहुत मारयो।"

दो॰ वा॰—"जब वो खंडन ब्राह्मण घर में सूतो तब चार जने वाकूं मुग्दर लैके मारन लागे।"

इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दोनों वार्ताओं में मिल सकते हैं जिनको एक दूसरे ने अपने इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया है।

३—दोनों वार्ताओं में वही नाम किंतु दूसरी घटनाएँ

चौ॰ वा॰ और दो॰ वा॰ में आए हुए नामों की एक किंचित् लंबी तालिका परिशिष्ट ३ में दी गई है। किंतु उनकी घटनाएँ एक दूसरे से नहीं मिलतीं। केवल नाम ही मिलने पर किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचना असंभव समझकर यहाँ केवल उन्हीं नामों का उल्लेख किया जाता है, जिनमें कुछ घटनाओं अथवा किन्हीं बातों में समझता पाई जाती है। नीचे दोनों ग्रंथों से एक एक नाम लेकर प्रत्येक पर विचार किया जायगा।

(१) दोनों वार्ताओं में दो नारायणदास के नाम आए हैं, जिनकी वार्ताएँ क्रमशः चौ॰ वा॰ ६५ तथा दो॰ वा॰ ६ में आती हैं। चौ॰ वा॰ ६५ के नारायणदास

चौहान 'ठट्टे' के रहनेवाले थे और दो० वा० ६ के नारायणदास गौड़ देश के। इन दोनों नारायणदासों की कथाएँ भिन्न हैं। समानता केवल इस बात में है कि दोनों किसी बादशाह के दीवान थे। चौ० वा० के नारायणदास 'ठट्टे' के बादशाह के "दीवान कुलकुल्ला हते" और दो० वा० के नारायणदास भी "बादशाह के दीवान हते", परंतु ये कहाँ के बादशाह थे इसका उल्लेख नहीं है। कदाचित् दोनों नारायणदास एक ही रहे हों, क्योंकि किसी बादशाह के दीवान दोनों थे।

(२) चौ० वा० ६० तथा दो० वा० १७२ में एक भगवानदास का नाम आता है। चौ० वा० में भगवानदास श्रीनाथ जी के भीतरिया हैं और दो० वा० में श्री गुसाईं जी के सेवक भगवानदास भीतरिया हैं। उनकी घटनाओं में भी किंचित् साम्य है। हो सकता है कि ये दोनों भगवानदास एक ही रहे हों।

(३) दोनों ग्रंथों में एक और भगवानदास का नाम आता है जिनकी वार्ता चौ० वा० ५६ और दो० वा० २४३ में पाई जाती है। चौ० वा० ५६ के भगवानदास को सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है, और दो० वा० २४३ के विषय में यह लिखा हुआ मिलता है कि "सो वे भगवानदास जी सारस्वत रामराय जी श्री महाप्रभु जी के सेवक हते"। दोनों वार्ताओं में भगवानदास सारस्वत लिखा हुआ मिलता है, कदाचित् दोनों एक ही रहे हों।

(४) दोनों ग्रंथों में रामदास तो कई आए हैं, परंतु उन रामदासों के विषय की कोई भी वार्ताएँ समान नहीं हैं। केवल दो रामदासों में कुछ समानता है। चौ० वा० ४५ में रामदास चौहान तथा दो० वा० ७५ में रामदास खंभातवाले का नाम आता है। चौ० वा० के रामदास को श्रीनाथ जी की सेवा समर्पित की जाती है, और दो० वा० के रामदास खंभातवाले को श्रीनाथ जी के शाकघर की। हो सकता है ये दोनों रामदास वस्तुतः एक ही रहे हों।

(५) इसी प्रकार चौ० वा० ६ में "पुरुषोत्तमदास क्षत्री बनारस में रहते" और दो० वा० १७६ में "पुरुषोत्तमदास काशीवाला" का नाम आता है। दोनों काशी या बनारस के रहनेवाले हैं। हो सकता है कि एक ही पुरुषोत्तमदास दोनों वार्ताओं में आए हों।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त पाँच नाम दोनों वार्ताओं में इस ढंग से आए हैं कि वे किंचित् भिन्नता के साथ भी समान प्रतीत होते हैं। इनके विषय में ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति को लेकर ये वार्ताएँ चल पड़ीं, और समय

बीतने पर वे ही वार्ताएँ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की समझी जाकर दोनों ग्रंथों में अपने-अपने ढंग पर लिखी गईं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों वार्ता-ग्रंथों में परस्पर यथेष्ट आदान-प्रदान हुआ है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण, जैसा पहले भी कहा जा चुका है, स्वयं उक्त दोनों ग्रंथों में ही इस आदान-प्रदान विषयक उल्लेखों में पाया जाता है—

(१) दो० वा० में जिस प्रकार वार्ता १६४ में लिखा गया है कि यह बात कुंभनदास जी की वार्ता में लिखी गई है, और कुंभनदास जी की वार्ता केवल चौ० वा० में आती है, उसी प्रकार चौ० वा० में वार्ता ६० में यह उल्लेख मिलता है कि "यह चतुर्भुजदास की वार्ता में लिखे हैं" और चतुर्भुजदास की वार्ता केवल दो० वा० में आती है।

(२) दो० वा० में वार्ता २१० में लिखा गया है कि "ये बात जगन्नाथ जोसी की वार्ता में लिखा है" और जगन्नाथ जोसी की वार्ता केवल चौ० वा० की वार्ता ३८ में आती है।

परिशिष्ट

दोनों वार्ताओं में वही नाम और वही घटनाएँ

(क) चौ० वा० ६०, कुंभनदास गोरवा की वार्ता में कृष्णदास की वार्ता

और एक समय कुंभनदास जी श्रीगुसाईं जी के पास बैठे हुते तब कुंभनदास ने श्रीगुसाईं जी सों कह्यौ जो महाराज बेटा डेढ़ है और हैंतो साथ तब श्रीगुसाईं जी ने कह्यौ जो कुंभनदास डेढ़ कौ कारन कहा तब फेरि कुंभनदास जी कहैं जो महाराज आखौ बेटा तो चत्रभुजदास है और आधौ बेटा कृष्णदास है सो श्रीनाथ जी की गायन की सेवा करत है तासों आधौ है कुंभनदास जी कृष्णदास सों आधौ क्यों कहैं ताको हेत यह जो श्री आचार्य जी महाप्रभून ने पुष्टिमार्ग प्रगट कीयो है सो पुष्टिमार्ग कहा है जो व्रजभक्तन को हेत यह मार्ग प्रगट कीयो है सो भगवदीय गाये हैं 'जो सेवा रीति प्रीत व्रजजन की जन हित जग प्रगटाई' सो व्रजभक्तन की कहा रीति है जो श्रीठाकुर जी के सन्निधान तौ सेवा करे और श्री ठाकुर जी बन में पधारें तब गुणगान करें जो ये वस्तु होय तो आखौ और इनमें ते एक होय तौ आधौ ताते चत्रभुजदास सेवा और गुणगान है ताते आखौ और कृष्णदास में एक सेवा है सो

आधौ तब श्रीगुसाईं जी श्रीमुख ते कहैं जो भगवदीय हैं तेई बेटा हैं और बहुत भये तौ कौन काम के यह चत्रभुजदास की वार्ता में लिखें हैं ॥ प्रसंग ॥ ६ ॥ वैष्णव ॥ ६० ॥

(ख) चौ० वा० ६१, कृष्णदास की वार्ता

सो वे कृष्णदास श्रीनाथ जी को गायन के ग्वाल हुते श्री गुसाईं जी ने इनको गायन की सेवा दीनी हुती सो कृष्णदास श्रीनाथ जी की गायन की सेवा करते सवारे खिरक सेवा सौं पहुँच के फेर गायन चरायबे को जाते × × × सो एक दिन गाय चरायकें पूछरी के पोर कृष्णदास गायन के संग आवत हुते सो सगरी गाय तौ खिरक में आई और गाय बड़ी हुती ताकों औन बहुत भारी हुतौ सो वह गाय बहुत हरवे हरवे चलती सो वा गाय कों आवत अँधियारौ परि गयौ सो तहाँ पर्वत के नीचे अँधियारे में एक नाहर निकस्यौ सो गाय पै दोर्यो तब कृष्णदास कहैं जो अरे अधर्मी यह श्रीनाथ जी की गाय है तू भूखौ होय तौ मेरे ऊपर आऊ तब इतने में गाय तौ भाजि खिरक में गई और नाहर ने कृष्णदास को अपराध कियौ और ऊपर कहि आये हैं जो गाय सब खिरक में आई तब श्रीनाथ जी आप गाय दुहिबे कों आये सो सब गाय ग्वाल दुहत हैं और वह बड़ी गाय खिरक में आई सो वह गाय कों श्री दुहिबे को बैठे और कृष्णदास बछरा थामें हैं और वह गाय बछरा कों चाटत है सो ऐसे दर्शन कुंभनदास जी कों भये × × × ॥ प्रसंग ॥ १ ॥ वै० ६१

(ग) दो० वा० १६४, कुंभनदास के बेटा कृष्णदास

सो वे कृष्णदास श्रीनाथ जी की गायन की सेवा करते और एक दिन कुंभनदास जी कुं श्री गोसाईं जी ने पूंछी तुमारे कितने बेटा हैं। तब विन ने कही हमारे दोढ बेटा हैं। तब आपनें आज्ञा करी दोढ कैसे होवै ? आधे बेटा की समजण पाडौ तब कुंभनदास जो ने कही पुष्टि मार्ग में भगवत्सेवा और भगवद्गुणगान ये दोनों मुख्य है तब दो काम करे सो बेटा आखौ और एक करे सो आधो। सो चतुर्भुजदास दो काम करे हैं सेवा और गुणगान और कृष्णदास एक सेवा करे हैं जासुं आधो बेटा है ये सुन के श्री गुसाईं जी मुसकाये और आज्ञा करी वैष्णव कुं ऐसे ही चाहिये सो वे कृष्णदास दिवस रात गायन की सेवा करते और गाय चरावते हते। एक दिन गायन में सिंघ आयो जब गाय बचावे के लीयें कृष्णदास ने अपने प्राण दिये और सिंघ की झपाट सहे गये और जब कृष्णदास के प्राण छूटे वाही समय श्रीनाथ जी खिरक में गोपीनाथदास ग्वाल के पास गाय दोहते हते और कृष्णदास बछरा पकड रहे हते सो गोपीनाथदास देखते हते सो ये बात कुंभनदास जी की वार्ता में लिखो है यातें इहाँ लिखे नहीं है तो कृष्णदास जी ऐसें कृपापात्र भये ॥ वै० १६४ ॥

(घ) चौ० वा० ३८, नरहर जोसी जगन्नाथ जोसी की वार्ता में महीधर और फूलबाई की वार्ता—

और एक समय नरहर जोसी को जिजिमान अलियान गांव में रहतौ ताको नाम महीधर जी हुतौ तथा वाकी बहन कौ नाम फूलबाई हुतौ तिनसों नरहर जोसी ने कह्यौ जो तुम श्री गुसाईंजी के पास नाम पावौ वैष्णव होउ तब उन कह्यौ जो भले अवश्य तुम श्री गुसाईं जी को पधरावो तब नरहर जोसी आयके श्री गुसाईं जी को पधरायके अलियान में गये तब महीधर जो तथा फूलबाई सों कह्यौ जो श्री गोसाईं जी पधारे हैं तब दोउ भाई बहन अत्यंत प्रसन्न भये तब महीधर जी ने नरहर जोसी सों कह्यौ जो में श्री गुसाईं जी कौ खाली हाथन कैसें पधराऊँ तब महीधर जी नें नरहर जोसी सों रुपैया मोहरन की खीचरो करवाय कें न्यौछावर करिकें श्री गुसाईं जी को अपने घर में पधराय...........तब नरहर जोसी खिरालू अपने घर आये ता पाछें कितनेक दिन मे वा अलियान गांव में आग लागी ता समय नरहर जोसी खिरालू के तालाब के ऊपर ते नित्य कर्म करिके तुलसी फूल की डारि तथा झारी हाथ में लैके घर आवत हुते ता समय नरहर जोसी के मन में आई जो अलियान गांव में आग लागी तब नरहर जोसी पैंडे ठाडे होय कें तुलसी दल बीच में धरिकें झारी में ते जल लैकें अँजुली सो तुलसीदल के पास पानी की धारा करिकें कुंडलिया कीनी इतने ही में आग बुझी और महीधर जी की हवेली घर सब बच्यौ × × × ॥ प्रसंग २ ॥

(ङ) दो० वा० २१०, श्री गुसाईं जी के सेवक महीधर जी और फूलबाई

सो वे महीधर जी क्षत्री अलियाणा गाम में रहते और फूलबाई विनकी बेहेन हती और नरहरजोसी के यजमान हते और नरहरजोसी के सत्संग तें वैष्णव भये हते सो एक दिन अलियाणा में आग लागी हती सो नरहरजोसी ने खिरालु गांम में बैठे बैठे बुझाई हती सो ये बात जगन्नाथ जोसी की वार्ता में लिखी है। फेर महीधर जब सरकार के कामदार भये और श्री गुसाईं जी कुं पधराय लाये और श्री गुसाईं जी विनके घर बहुत दिन बिराजे जब श्री गुसाईं जी भाईला कोठारी के इहां पधारते तब महीधर जी के उहां पधारते सो महीधर जी को चित्त श्री गुसाईं जी बिना कहुँ लगतो नहीं अब सूधी श्री गुसाईं जी की बैठक अलियाणा में प्रसिद्ध है × × × ॥ वैष्णव ॥ २१० ॥

परिशिष्ट २

दोनों वार्ताओं में दूसरे नाम किंतु वही घटनाएँ

(क) चौ० वा० ८०, सद्दू पांडे मानिकचंद पांडे और इनकी स्त्री

और एक दिन श्रीनाथ जी उनके घर दूध पीवे को सोने को कटोरा ले आये तब श्रीनाथ जी नें नरो सों कह्यौ जो दूध लाऊ तब नरो तौ वा कटोरा में दूध डारत जाय और श्रीनाथ

जी आप आरोगत जाय सो दूध पीके श्रीनाथ जी आप तौ पधारे और कटोरा वहां ही भूलि आये तब सवारे भये पाछें मंगला आरती के समय भीतरिया नें देखो तौ मंदिर में कटोरा नाहीं तब इतने में नरो कटोरा ले आई और कह्यो जो यह कटोरा लेऊ रात्रि को लरिका भूलि आयौ है तब सब जने बहुत प्रसन्न भये वह नरो ऐसी भगवदीय ही ॥ प्रसंग ॥ २ ॥

(ख) दो० वा० २३३, कल्याण भट्ट

सो एक समय श्री गोवर्धननाथ जो के दूध घरिया नें दोय कसेडी दूध कमती लियों जब रात कुं श्री गोवर्धननाथ जी उठे और सोना को कटोरा लेके आन्योर में गये सो दश पंद्रह वर्ष को छोरा को रूप धरके गये सो कल्याण भट्ट जो की बेटी देवका हती सो घर में दूध बहुत होतो हतो सो बेच देती हती तब श्री गोवर्धन नाथ जी नें पूछी तेरे पास दूध है तब वा देवका नें कही जो है साडा चार पैसा शेर के लेऊंगी तब श्री नाथ जी नें साडा चार पैसा कबूल करे और कटोरा में वे देवका सों दूध लियो × × × चार सेर दूध लियो और खांड डार के पान कियो तब वा देवका नें पैसा मांगे तब श्रीनाथ जी नें कही मेरो कटोरो घर में घर राख काल्ह कटोरा ले जाउंगो और पैसा देजाउंगो तब श्री गोवर्धन नाथ जी पौढे फेर सवारे श्री गुसांई जी शृंगार करत हते जब देखे तो कटोरा नाहीं है तब सब भीतरिया ढूँढवे लगे तब श्री गोवर्धन नाथ जी नें श्रीगुसांई जी सुं कही जो दूध घरिया ने दूध ओछो राख्यो हतो तब मैं देवका के पास दूध और खांड बेचातो लेके पी आयो हु और कटोरा गहने राख आयो हु तब ये बात श्रीगुसांई जी ने श्री कल्याण भट्ट सुं कही तब कल्याण भट्ट सुनके बहुत प्रसन्न भये तब घर जायके देवका सुं पूंछी जो काल्ह तेरे पास कोई कटोरा धर के दूध ले गयो है ! तब देवका नें कही एक छोरा ले गयो है, और कटोरा धर गयो है तब कल्याण भट्ट जी ने कही ये तो श्रीनाथ जी हते, तब कटोरा देखे तो सोना को है तब कल्याण भट्ट जी लेके श्री गुसांई जो कुं दियो तब श्रीगुसाई जी देवका की सराहना करन लगे और कही जो याके भाग्य की कहा बड़ाई करनी । × × × ॥ प्रसंग ॥ २ ॥

(ग) चौ० वा० ६३, अच्युतदास सारस्वत ब्राह्मण

सो एक समय श्री आचार्य जी महाप्रभून के संग अच्युतदास ने पृथ्वी परिक्रमा दीनी हुती सो आचार्य जी महाप्रभून ने अच्युतदास कों अपनी पादुका जी की सेवा दीनी ताते आचार्य जी महाप्रभू अच्युतदास को नित्य दर्शन देते जो आचार्य जी महाप्रभून ने संन्यास ग्रहण कियौ सो केवल उनके भावार्थ कीयौ तब एक वैष्णव सों श्री आचार्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो एक डौंगी काशी को भाडे कर लाउ तब वह वैष्णव डौंगी भाडे कर लायै ताके ऊपर श्री आचार्य जी महाप्रभू चढि के बनारस पधारे तहाँ संन्यास डेढ महीना ताईं राख्यौ, तब

वह वैष्णव जो काशी में गयो हो सो काशी तें कड़ा में आयौ तब अच्युतदास तथा सब वैष्णवन सों कह्यौ जो श्री आचार्य जी महाप्रभून ने संन्यास ग्रहण कियौ फेरि काशी पधारे सो उहां डेढ़ महीना तांई रहे पाछे आसुर व्यामोह लीला दिखाई तब अच्युतदास ने वा वैष्णव सों कह्यौ जो तों को भ्रम भयौ होयगो तब वा वैष्णव ने कह्यौ जो मैं आचार्य जी महाप्रभून के साथ हुतौ सो काशी ते देखिकें अबही हौं आवो हौं तब अच्युतदासने कह्यौ जो ऐसी प्रभू कबहूं न करे जो जीवन को आसु व्यामोह लीला दिखावत हैं तब अच्युतदास ने मंदिर के किवाड़ खोलि के वा वैष्णव को श्रीआचार्य जी महाप्रभून के दर्शन करवाये तब देखे तो श्री आचार्य जी महाप्रभू विराजे हैं और पोथी देखत हैं तब वा वैष्णव ने दंडौत कीनी तब आचार्य जी महाप्रभून ने कह्यौ तुम कछू संदेह मति करौ यह प्रागट्य लौकिक रीति सों देह धरे की लीला है और सिंहासन बैठकें अलौकिक लीला नित्य है × × × ॥ प्रसंग ॥ १ ॥ वै० ॥ ६३ ॥

(घ) दो० वा० २, छीत स्वामी

छीत स्वामी मथुरा में रहते हते × × × छीत स्वामी देखि के मन में विचारी जो ये तो साक्षात् ईश्वर हैं जब छीत स्वामी ने कही जो महाराज मोकुं शरण लेओ जब श्री गुसांई जी ने छीत स्वामी कुं नाम सुनायो पाछे श्री नवनीत प्रिया जी के दर्शन करवे कुं गये भीतर देखे तो श्री गुसांई जी बिराजे हैं और बाहेर आय के देखे तो विराजे हैं जब छीत स्वामी ने विचारी × × × दूसरे दिन छीत स्वामी कु साक्षात् कोटि कंदर्प लावण्य पूर्ण पुरुषोत्तम के दर्शन भये और भगवल्लीला को अनुभव भयो और श्री गुसांई जी तथा श्री ठाकुर जी के स्वरूप में अभेद निश्चय भयो दोनो स्वरूप एक है ऐसे जानन लगे तब छीत स्वामी गोपालपुर श्रीनाथ जी के दर्शन कुं गये उहां श्रीनाथ जी के पास श्री गुसांई जी कुं देखे जब बाहेर निकसि के पूंछी जो श्री गुसांई कब पधारे हैं तब उहां के लोगन नें कही श्री गुसांई जी तो गोकुल विराजे हैं जब छीत स्वामी उहां ते श्रीगोकुल में आय के श्री गुसांई जी के दर्शन किये जब छीत स्वामी ने ये निश्चय कियो जो श्रीनाथ जी तथा श्री गुसांई जी एक ही स्वरूप हैं × × × ॥ प्रसंग ॥ १ ॥

(ङ) चौ० वा० ८६, परमानंददास कनौजिया ब्राह्मण

× × × ऐसे पद परमानंददास नें गायौ ता पाछें श्री गोवर्धननाथ जी के मंगला के दर्शन खुले तब परमानंददास नें श्री गोवर्धननाथ जी सों पूछी जो आप तातौ दूध क्यों आरोगत हैं तब श्रीनाथ जी ने कह्यो जो ये हमको समर्पत है सो आरोगत हैं ता पाछे परमानंद दास जी नित्य कीर्तन करिकें सुनावते तब ता समय एक राजा दर्शन कों आयों सो श्री गोवर्धन-

नाथ जी के दर्शन करे तब फेरि आयकें रानी सों कही जो गोवर्धननाथ जी ठाकुर बहुत सुंदर हैं ताते तू जाय के दर्शन करि आउ तब रानी ने कही जो ऐसे हमारी रीति है सो होय तो दर्शन करें तब राजा ने कही जो गोवर्धननाथ जी के दर्शन में काहे को परदा है तब रानी ने मानी नहीं तब राजा ने भी आचार्य जी महाप्रभून सों बीनती कीनी जो महाराज में तो रानी सों बहुत कहत हों पारि वह आवत नाहीं ताते आप कृपा करिकें दर्शन करवावो तब वह करै तब श्री आचार्य जी महाप्रभून ने कही जो यहाँ ले आवो जो प्रथम वाकों एकांत में दर्शन करवावेंगे ता पाछें और लोग दर्शन करेंगे तब राजा अपनी रानी को लिवाय के श्री गोवर्धन-नाथ जी के दर्शन करवाये सो सब लोग सरकि गये तब रानी दर्शन करिवे लगी तब इतने में श्री गोवर्धननाथ जी ने सिंहपौर के किवाड़ खोल दिये सो सब भोर दौर के रावी के ऊपरि परी सो रानी के सब वस्त्र निकस परे और बहुत लज्जित भई तब राजा ने रानी सों कही जो मेंने तोसों पहिले ही कह्यौ हुतौ जो श्री ठाकुर जी के दर्शन में काहे को परदा है ये व्रज के ठाकुर हैं इनने काहू को परदा राख्यौ नाहीं तब वा समय परमानंददास जी ने पद गायौ। × × × प्रसंग ॥ ३ ॥

(च) दो० वा० २४, राजा लाखा

वह राजा व्रज में तीरथ करवे कों आयौ और श्रीनाथ जी के दर्शन करिके श्री-गुसाईं जी के शरण गयौ और श्रीनाथ जी के स्वरूप में ऐसे आसक्त भयो जो श्रीनाथ जी बिना वाकूं कछू भावे नहीं श्रीनाथ जी को रटन विनकुं अष्ट प्रहर रहेतो हतो एक दिन वाकी स्त्री ने कही जो उहाँ पडदा की बंदोबस्ती होय तो मैं दर्शन करूँ तब राजा ने कही श्रीनाथ जी के पडदा कैसो जब राणी ने श्री गुसाईं जी सूं परबारी बीनती करवाय के पडदा को बन्दोबस्त कर-वायो और दर्शन को आई जब एक राजा भीतर हतो और कोई मनुष्य नहीं हतो सो श्रीनाथ जी नें कवांड खोल डारे सो अचानक रानी के ऊपर भीड़ पडी सो राजा ने कही मैंने कह्यो हतो जो इहाँ पडदा नहीं चले और श्रीनाथ जी ने कवांड़ खोले वा राजा की बात सत्य करवे के लिये खोले सो ऐसे श्रीनाथ जी में आसक्त हते श्री गुसाईं जी की कृपातें विनको भाव सदैव ऐसो रहतो ॥ वार्ता संपूर्ण ॥ वैष्णव ॥ २४ ॥

निम्नलिखित वार्ताओं में आई हुई घटनाओं में वह समानता नहीं पाई जाती जो उपर्युक्त वार्ताओं में है, परंतु घटनाएं एक ही हैं।

(छ) चौ० वा० ६८, दामोदरदास कायस्थ

सो तिनकी सेव्य ठाकुर श्री कपूर राय जी सो बहुत गौर स्वरूप हुतौ तिनके पास श्री-नवनीत प्रिया जी बैठिते सो एक समय दामोदरदास की स्त्री बीरबाई ताके गर्भ रह्यौ पाछें

प्रसूत भई सो पुत्र जन्म भयौ सो घर की बहू बेटी सब प्रसूत के कामकाज करन लागी सो श्री ठाकुर जी की सेवा में विलंब भयौ बीरबाई प्रसूतक में ते बहुत कहै जो कोऊ सेवा में न्हाय श्री ठाकुर जी की सेवा में अबेर होत है परि कोई नाहीं न्हाय तब श्री ठाकुर जी ने बीरबाई सों कह्यौ जो तू स्नान करिके सेवा क्यों नाहीं करत है तब बीरबाई प्रसूतक में ते उठिके श्री ठाकुर जी सों कह्यौ जो महाराज मेरी तो यह व्यस्था है मोकों तो सेवा में आवनों नाहीं प्रसूतिका में हूँ अपरस छूइ जायगौ तब श्री ठाकुर जी महाराज ने बीरबाई सों कह्यौ जो मोकों तौ सेवा में विलंब होय है मोको इतनो अबार भइ है और कोऊ न्हात नाहीं ताते तू ही न्हाउ तब यह बीरबाई श्री ठाकुर जी के आग्रह ते उठिके प्रसूतका मे ते न्हाय के कछू दे के श्रीठाकुर जी की सेवा करिके पाछें भोग समर्प्यों × × × प्रसंग ॥ १ ॥ वैष्णव ॥ ६८ ॥

(ज) दो० वा० १५४, मेहा धीमर

× × × मेहा गोपालपुर में आय के सेवा करन लग्यो फेर मेहा की स्त्री को गर्भ भयो और प्रसव को समय भयो मेहा गाम में नहीं हतो तब मेहा कुं बेटा भयो तब मेहा की स्त्री कुं बड़ा पश्चाताप भयो ये दुष्ट बेटा क्युं भयो मेरी भगवत् सेवा छूटी ऐसे विचार के रुदन करवे लगी तब श्री ठाकुर जी ने आज्ञा करी जो रो मति न्हाय के मेरी सेवा कर तब वे स्त्री ने रीती प्रमाणे न्हाय के भगवत्सेवा करी फेर जब मेहा आयो तब मेहा ने कही तैने ऐसी अवस्था में सेवा क्यूं करी वा स्त्री ने कही मोकुं श्री ठाकुर जी ने आज्ञा करी है तब मेहा सुनि के बहुत प्रसन्न भयो और मेहा ने बहुत नये पद करके भगवल्लीला अनेक प्रकार सुं गाई है सो वे मेहा श्री गुसाईं जी के ऐसे भगवदीय कृपा पात्र हते ॥ वैष्णव ॥ १५४ ॥

(झ) चौ० वा० २६, प्रभूदास भाट सीहनंद के वासी

सो वे प्रभूदास भाट श्री ठाकुरदास जी की सेवा नीकी भाँति सों करते सो बहुत दिन सेवा करत बीते पाछें वृद्ध भयौ तब बहुत अशक्ति भये तब जानि यह देह दिन च्यार मैं छूटेगी तब सावधानता छूटी असावधान भये तब सगरे मिलके प्रभूदास को प्रयोदकतीर्थ है वहाँ ले गये जब प्रयोदक आयौ तब सावधान भये × × × सब प्रसाद ले चुके तब सबन सों प्रभूदास ने जै श्रीकृष्ण कह्यौ और प्रभूदास ने तत्काल देह छोडी पाछें सीहनंद में एक कीरत चौधरी हुतो सो प्रभूदास की निन्दा करन लागो और कह्यौ जो प्रभूदास प्रयोदिक ते उलटौ फिर आयौ और सीहनंद में देह छोडी ऐसी निन्दा करतो सो एक दिन रात्रि को सोयो हुतो तहाँ कोऊ चारि जने हाथ में मुगदर ले के आए सो कीरत चौधरी को बहुत मार्‍यौ तब चौधरी नें कह्यौ जो तुम मोकों क्यों मारत हौ तब उनने कह्यौ जो प्रभूदास की निन्दा तू क्यों करत है तब कीरत चौधरी ने कह्यौ जो अब मैं

निन्दा न करूंगो और बहुत मनुहार करी तब उन कह्यो जो तू फेरि निन्दा करेगो तौ तोको याही भांति सो मारेंगे तब कीरत चौधरी ने कह्यौ जो अब तें निन्दा न करूंगो भक्ति करूंगो × × × तब सबन को कीरत चौधरी ने अपने देह की व्यवस्था दिखाई और कह्यौ जो रात्रि को कोऊ चारि जने आयके मार मार हाड चूरन कियौ ताते भगवदीय की निन्दा सर्वथा न करनी × × ×।। प्रसंग १ ।। वै० ।। २६ ।।

(अ) दो० वा० ६१, एक खंडन ब्राह्मण

× × × सो वह खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो ऐसो वाको नेम हतो याही ते सब लोगों ने वाको नाम खंडन पाड्यो हतो सो एक दिन श्री महाप्रभु जी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो सो खंडन करन लग्यो वैष्णवन ने कही जो तेरे शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडित के पास जा हमारी मंडली में तेरे आयवे को काम नहीं इहां खंडन मंडन नहीं है भगवद्वार्ता को काम है भगवद्यश सुननो होवै अथवा गावनो होवे तो इहां आवो तो हु वाने मानी नाहीं नित्य आयके खंडन करे ऐसे वाको प्रकृति हती फेर एक दिन वैष्णवन को चित्त बहुत उदास भयो जब वो खंडन ब्राह्मण घर में सूतो तब चार जने वाकुं मुद्गर लैके मारन लगे जब वाने कही तुम मोकुं क्यौं मारो हो जब चार जनेन ने कही तुम भगवद्धर्म खंडन करो हो और भगवद्धर्म सर्वोपर है सर्व धर्मन ते श्रेष्ठ है × × × ऐसे धर्मन कुं खंडन करे हैं जासुं तोकुं मार देवे हैं × × × वैष्णवन सुं वीनती करी के मोकुं कृपा करके वैष्णव करो और वैष्णवन कुं संग लैके श्री गोकुल आयके श्री गुसाईं जी को सेवक भयो × × × ।। वार्ता संपूर्ण ।। वैष्णव ।। ६१ ।।

परिशिष्ट ३

दोनों वार्ताओं में वही नाम किंतु दूसरी घटनाएँ

	चौ० वा०		दो० वा०
वार्ता सं०	४८ आनन्ददास विशंभरदास	वार्ता सं०	१४३ आनन्ददास साचौरा ब्राह्मण
,,	४६ एक ब्राह्मणी	,,	७१ एक ब्राह्मणी
		,,	११६ एक ब्राह्मणी अडेल में रहती
,,	५० एक क्षत्राणी	,,	१४२ एक क्षत्राणी
,,	६७ एक क्षत्राणी सीहनंद में रहती	,,	१२२ एक क्षत्राणी
,,	२० एक क्षत्राणी महावन में रहती		

	चौ० वा०		दो० वा०
,,	५८ जीवनदास छत्री कपूर सीह-नंद के वासी	,,	१८६ जीवनदास ब्राह्मण
,,	१ दामोदरदास हरसानी	,,	२२४ दामोदरदास विनकी दोय स्त्री
,,	३ दामोदरदास सम्भलवारे खत्री		
,,	६८ दामोदरदास कायस्थ		
,,	२२ देवा छत्री कपूर	,,	३० देवा ब्राह्मण बंगाली
		,,	८२ देवा भाई पटेल
,,	६४ नारायणदास अंबाले के वासी	,,	१२५ नारायणदास ब्राह्मण
,,	६५ नारायणदास चौहान ठट्टे के वासी	,,	६ गौड़ देश के वासी नारायणदास, पादशाह के दीवान
,, ,,	१६ नारायणदास ब्रह्मचारी सारस्वत ब्राह्मण		
,,	१४ वेणीदास माधोदास	,,	१८० वेणीदास
		,,	२०७ वेणीदास छीपा
		,,	१०७ वेणीदास दामोदरदास
,,	६० भगवानदास श्रीनाथ जी के भीतरिया	,,	१७२ भगवानदास भीतरिया
			२४३ भगवानदास
,,	५६ भगवानदास सारस्वत	,,	
,,	३२ माधोदास भट्ट काश्मीर के वासी	,,	१६७ माधोदास बड़नगर वाला
		,,	१६ माधोदास छत्री
		,,	२० माधोदास भटनागर
		,,	१२३ माधोदास कपूर
,,	३० यादवेंद्रदास कुम्हार	,,	१६६ यादवेंद्रदास
,,	५४ रामदास मीराबाई के पुरोहित	,,	७५ रामदास खंभातवाला
,,	१२ रामदास सारस्वत ब्राह्मण		

	चौ० वा०		दो० वा०
वार्ता सं०	४० रामदास सारस्वत ब्राह्मण राजनगर में रहते		
,,	५५ रामदास चौहान		
,,	६१ कृष्णदास	वार्ता सं०	१६४ कृष्णदास
,,	८३ कृष्णदास ब्राह्मण	,,	१३ कृष्णदास
,,	२ कृष्णदास मेघन छत्री	,,	६२ कृष्णदास ईश्वरदास
,,	६२ कृष्णदास अधिकारी	,,	२०४ कृष्णदास स्वामी
		,,	२५२ जाडा कृष्णदास
,,	६ पुरुषोत्तमदास छत्री बनारस में रहते	,,	१७६ पुरुषोत्तमदास काशीवाला
,,	११ पुरुषोत्तमदास के बेटा गोपालदास	,,	१४ गोपालदास सेगल छत्री
,,	३३ गोपालदास	,,	२८ गोपालदास
,,	७४ गोपालदास ठोरा के बासी	,,	३६ गोपालदास
,,	८२ गोपालदास जटाधारी श्रीनाथ की खवासी करते	,,	१७५ गोपालदास २४० गोपालदास
,,	८७ गोपालदास नरोडा में रहते	,,	
,,	८६ परमानंददास कनौजिया ब्राह्मण	,,	६० परमानंददास सोनी

भारतेंदुकालीन एक विस्मृत साहित्यकार

[श्री हृदयनारायण सिंह]

भारतेंदु-काल के साहित्यकारों में मँझौली के महाराजकुमार लाल खड्गबहादुर मल्ल का नाम आदर के साथ लिया जाना चाहिए और प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, केशवराम भट्ट, तोताराम, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास, जगमोहनसिंह आदि साहित्यकारों के साथ उनका भी उल्लेख होना चाहिए। परंतु हिंदी साहित्य के इतिहासकारों को या तो उनकी साहित्य-रचना के विषय में जानकारी ही नहीं है, या उन्होंने उनकी उपेक्षा की है। इस लघु लेख से विदित होगा कि लाल खड्गबहादुर मल्ल साहित्य-रचना की दृष्टि से किसी प्रकार उपेक्ष्य नहीं हैं।

भारतेंदु-काल में हिंदी लेखकों का कार्य तीन प्रकार का दिखाई पड़ता है—स्वतः साहित्य-रचना करना, दूसरों को साहित्य-रचना के लिये प्रोत्साहित करना, मुद्रणालय स्थापित कर वा पत्र निकालकर हिंदी का प्रचार करना। ये तीनों प्रकार के कार्य लाल खड्गबहादुर मल्ल द्वारा पर्याप्त मात्रा में किए गए।

लाल खड्गबहादुर मल्ल विश्वेन वंश के राजा उदयनारायण मल्ल के आत्मज थे। इनका जन्म संवत् १६१० मे भाद्रपद कृष्ण द्वादशी को मंगलवार के दिन हुआ था। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद', भारतेंदु हरिश्चंद्र, पंडित अंबिकादत्त व्यास, पं० देवकीनंदन त्रिपाठी ('प्रयाग समाचार' के संपादक) आदि की मैत्री एवं स्वीय आंतरिक संस्कार ने श्री 'लाल' को (कविता में ये अपना उपनाम 'लाल' रखते थे) साहित्य-रचना की ओर प्रेरित किया।

संवत् १६३६ में इन्होंने 'पीयूषधार', 'सुधाबुंद', 'पावस प्रेमप्रवाह', और 'फाग अनुराग' नाम की अपनी चार गानों की पुस्तकें प्रकाशित कराईं। इन पुस्तकों में तत्कालीन रुचि के अनुसार शृंगारपरक रचनाएँ संकलित हैं। यद्यपि अनेक गीत बड़े सुंदर हैं, फिर भी ये रचनाएँ शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। इनकी प्रथम साहित्यिक रचना 'योगिनलीला'—जो एक छोटा सा

शृंगाररसपूर्ण प्रबंध काव्य है—सं० १६४० में प्रकाशित हुई। सं० १६४२ में इनकी अनेक पुस्तकें प्रकाश में आईं जिनमें 'रति कुसुमायुध', 'भारत आरत' और ,महारास' नाटक हैं और 'रसिकविनोद' काव्य-ग्रंथ है। इसके पश्चात् 'हरतालिका', 'कल्पवृत्त' और 'भारत ललना' नाटक सं० १६४३ और १६४४ के बीच प्रकाशित हुए। 'दशमी चरित' और 'विश्वेन वंश वाटिका' इनकी दो अन्य पुस्तकें हैं। इस प्रकार अपने छत्तीस वर्ष के अल्पकालीन जीवन में इन्होंने नाटककार, गद्य-लेखक एवं कवि के रूप में रंजनकारी साहित्य-सेवा की। इनकी साहित्यिक रचनाओं का कुछ परिचय यहाँ देने का प्रयत्न किया जाता है।

'लाल' जी के नाटक भारतेंदु के नाटकों की शैली का अनुसरण करते हैं और अनेक स्थलों पर उनकी छाया दृष्टिगोचर होती है। परंतु उनमें लेखक की अपनी मौलिकता भी वर्तमान है। नाटकों की भाषा सरल और प्रवाहयुक्त है। उनका हास्य उत्तम कोटि का है और उनमें शृंगार रस का अच्छा परिपाक हुआ है। यद्यपि चरित्रचित्रण निर्बल और वस्तुयोजना सदोष है, फिर भी कुछ पात्र अपनी विशिष्ट व्यक्तिगत सत्तावाले हैं और कार्य की गति अवरुद्ध नहीं है। उस प्रारंभिक काल में सबल चरित्रचित्रण और संघटित वस्तुयोजना की आशा समीचीन नहीं। ये नाटक देशभक्ति और समाज-सेवा के उद्देश्यों की सिद्धि करते हैं। प्रकृति-वर्णन इन नाटकों में मनोहर हुआ है। नाटकीय रचनाओं में 'हर-तालिका' इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना ठहरती है।

'लाल' जी के नाटक उस काल के अन्य लेखकों के नाटकों की तुलना में किसी प्रकार हेय या उपेक्ष्य नहीं हैं। नाटकों का गद्य साहित्यिक, मुहावरेदार, सरल और सरस है। अन्य पुस्तकों की गद्य-शैली भी अपने काल की विशेषताओं से—व्यंग्योक्ति, लोकोक्ति, तथा हास्य के छींटों से—युक्त है।

इनके 'महारास' नाटक का उल्लेख भारतेंदु ने अपने 'नाटक' नामक निबंध में किया है। इसका कथानक श्रीकृष्ण की रासलीला से लिया गया है। इसकी नायिका राधा हैं और नायक श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण का प्रेम प्राप्त करना ही नाटक का उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति में राधा के गर्व से व्यवधान उत्पन्न होता है।

'रति कुसुमायुध' का कथानक काल्पनिक है। प्रेमनगर की राजकुमारी रति और अनुरागनगर के राजकुमार कुसुमायुध क्रमशः इसकी नायिका और इसके नायक हैं। नायक आखेट करते समय मार्ग भूल जाता है और रति को देखता है। दोनों एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं और कुछ समय पश्चात् दोनों विवाह-सूत्र

में बँधते हैं। चौथे और पाँचवें दृश्यों में वर्षा की प्राकृतिक शोभा का सुंदर वर्णन हुआ है। यथा—

रति—श्याम घन की छाया के मध्य जो सायंकाल की अरुण किरण की रेखा सी खिंची है वह मानों केशपाटी के बीच नई सिंदूर रेख है और उसमें कभी-कभी सूर्य का बिंब कैसा टिकुली सा चमक-चमक जाता है।

मधुकर—यह अनेक रंग के पाषाणों की नालियों और झरनों में स्वच्छ जल के प्रवाह से इन सजीले वृक्षों की हिलती हुई छाया कैसी आँखों को सुख देती है।

'भारत आरत' हास्य-रसात्मक रचना है। इस प्रहसन के द्वारा लेखक ने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों पर तीव्र कटाक्ष किया है। इसके चार दृश्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों के सामाजिक दोषों तथा सरकारी ओहदेदारों, अंग्रेजों, मुसलमानों और शासकों एवं शासितों की दुर्बलताओं एवं दुर्गुणों का प्रकाशन किया गया है। इसकी भाषा मुहावरेदार, चटपटी, हास्य-रसानुकूल है। अनेक स्थलों पर श्लिष्ट शब्दों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

'हरतालिका' नाटिका हरतालिका व्रत के अवसर पर "पतिव्रता धर्मावलंबिनी स्त्रियों के अवलोकनार्थ" लिखी गई थी। इसमें पार्वती द्वारा शिव की पतिरूप में प्राप्ति का वर्णन है। वस्तुयोजना सुसंगठित, कथोपकथन स्वाभाविक और संक्षिप्त तथा चरित्रचित्रण सबल है।

'कल्पवृक्ष' का कथानक हरिवंश पुराण के ११७ से १२८ तक के अध्यायों की कथा से लिया गया है। एक बार श्रीकृष्ण कल्पवृक्ष का एक फल नारद से पाकर रुक्मिणी को देते हैं। इससे जब सत्यभामा को ईर्ष्या होती है और वे कोपभवन में जा विराजती हैं तो उनके आश्वासन के लिये श्रीकृष्ण कल्पवृक्ष को ही पृथ्वी पर लाने की प्रतिज्ञा करते हैं। इसके लिये इंद्र से उनका युद्ध होता है। तब कश्यप और अदिति शिव की सहायता से उनमें मैत्री कराते हैं और कृष्ण का वचन पूरा होता है।

इस नाटक की वस्तुरचना असंबद्ध और कथोपकथन बड़े दीर्घ हैं। इसके पात्रों की संख्या ऐरावत, गरुड़, किन्नर और भूत-प्रेत को लेकर चालीस के लगभग है।

'लाल' जी की कविता-पुस्तकों में 'योगिनलीला' और 'रसिकविनोद' उल्लेखनीय हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, योगिनलीला एक छोटा सा प्रबंध काव्य

है। इसमें दोहा, सोरठा और रोला छंदों की लगभग तीन सौ पंक्तियों में कृष्ण की एक लीला का वर्णन है। कृष्ण ने एक बार जोगिन का रूप धारण कर राधा तथा गोपियों को दूती द्वारा छल से बुलाकर उनका सत्कार किया। उन्हें स्नान कराया, वस्त्र पहिनाया और फल-फूल खिलाकर अपना सच्चा रूप प्रकट किया। राधा तथा गोपियों को विस्मय हुआ और उन्होंने श्रीकृष्ण को उपालंभ दिया। श्रीकृष्ण ने उनका उचित उत्तर दिया। अंत में सबको अपने अपने घर पहुँचाकर वे भी अपने घर गए।

इस रचना में यमुना-तट के निकुंजों की प्राकृतिक शोभा का वर्णन सुंदर हुआ है। यथा—

पावस रितु घनघोर घटा चहुँ दिसि घिरि आई।
चलत मंद गति त्रिविध पौन अतिसय सुखदाई॥
बोलत मीठे स्वरन मोर कोकिल अरु चातक।
संयोगिन के प्रान वियोगी जन के घातक॥
जत्र तत्र बन बेलि हरित द्रुम सों लपटानी।
यमुना हूँ लहरति जल सों उमँगी इतरानी॥
एक ओर बहु रंग इंद्रधनु सौंहैं सोहै।
काम तानि धनु मनहुँ प्रिया की भृकुटी जोहै॥
हरित भूमि पै इंद्रबधू के बृंद बिराजैं।
पत्रन पै जलबिंदु मुक्त इव अति छबि छाजैं॥
कबहुँ सूक्ष्म गति चमकि चमकि चपला दुरि जावै।
मनहुँ प्रिया दुति देखि सकुचि निज बदन दिखावै॥

जब जोगिन-वेषधारी कृष्ण का सँदेसा लेकर दूती राधिका के पास जाती है और जोगिन के पास चलने का आग्रह करती है तो राधिका का वचन बड़ा स्वाभाविक प्रतीत होता है—

झूठ भुरावति आय, मोहिं हँसी भावति नहीं।
सुनि पैहै जो भाय, पुनि आवन नहिं पायहौं॥

'लाल' की सर्वोत्तम काव्यकृति 'रसिकविनोद' है जो सौ स्फुट रचनाओं का संकलन है। इस रचना के आधार पर वे सुकवियों में अपना स्थान सुरक्षित बना लेते हैं। इसके छंदों में भाव और कल्पना का संतुलित संयोग हुआ है और भाषा का प्रांजल प्रवाह, उक्तियों की हृदयस्पर्शिता और वर्णन की चित्रोपमता

श्लाघनीय है। उपर्युक्त कथन की पुष्टि में केवल तीन उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

जैसो जौन करै तैसो तौन फल पावै सदा
वेद हू बतावै यह बात ना टली है जू।
बैज करि भाखौं कछु छल नहिं राखौं तो सों
तो समान हितू मेरी बीर बिरली है जू।
छाँड़ि कुल कानि तानि प्रेम कौ बितान अब
मेरी तौ निवास भूमि प्रेम की गली है जू।
मेरो मन लागि रह्यो लाल जू सों आछो, वह
मानै तो भली है नहीं मानै तो भली है जू॥

खेलत बिहारी अरु कीरति कुमारी फाग
छबि सो निहारी लाल तन मन वारे हैं।
संग गोपी ग्वाल अंग अंग में अनंग रंग
प्रेम औ उमंग भरि गारि हूं उचारे हैं।
आज ब्रज कुंकुम अबीर अरु केसर को
केवल गुलाब युत बहत पनारे हैं।
उड़त गुलाल बीच बुक्का हू निहारे मानो
तारे असमान के गुलाबी रंग धारे हैं॥

स्याम सित अरुन मरोरवारी कोर वारी
जोरवारी जालिम जुगल छबि सखियाँ।
देखत तनिक मृग बन में बिलाइ गए
बूड़ि गए मीन सूखि गई कंज पँखियाँ।
मुरि गए तीर तरवार औ कटार भाले
लाल भये व्याकुल बिहाल भई सखियाँ।
भाव भरी चाव भरी काम मद लाज भरी
सील भरी सरस सनेह भरी अँखियाँ॥

'लाल' जी के सरस हृदय और उनकी रचना-शक्ति का अनुमान हम उपर्युक्त अल्प परिचय से भी भली भाँति कर सकते हैं। परंतु वे केवल कवि और लेखक ही नहीं थे, हिंदी के प्रति उनके हृदय में सेवा की भावना थी और उसकी

उन्नति के लिये वे अन्य प्रकार से भी प्रयत्नशील हुए । बाँकीपुर का खड्गविलास प्रेस, जो उन्हीं (लाल खड्गबहादुर मल्ल) के नाम से स्थापित हुआ था, आज भी इसका साक्षी है। इस प्रेस से अनेक उत्तमोत्तम पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। कोर्ट ऑव वार्ड्स से अपने राज्य के मुक्त होने पर उन्होंने हिंदी-प्रचार के निमित्त पाँच लाख रुपए देने का संकल्प किया था। यदि उन्होंने कुछ और आयु पाई होती तो अवश्य ही हिंदी का अधिक उपकार होता। वे स्वयं व्याख्यान द्वारा तथा लेखकों को प्रोत्साहन देकर भी हिंदी का प्रचार करते थे । ठाकुर रामदीनसिंह के संपादकत्व में उन्होंने 'क्षत्रिय पत्रिका' नाम की एक पत्रिका भी निकाली थी।

जिस व्यक्ति ने हिंदी की उक्त प्रकार से बहुविध सेवा की हो, जिसके नाम और साहित्य-सेवा का स्मरण खड्गविलास प्रेस अब भी कराता हो और जिसकी पुस्तकें भारतेंदुकालीन रचनाओं में प्रमुख स्थान रखती हों उसे भुला देना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

श्रीलाल खड्गबहादुर मल्ल की रचनाएँ उनकी धर्मपत्नी (राजमाता, मँझौली) के पास थीं, जो अस्सीघाट पर काशीवास करती थीं। उनके बाद वे रचनाएँ उनके जामाता और उत्तराधिकारी सोहावल के राजकुमार के अधिकार में आई होंगी। वर्तमान मँझौली-नरेश यदि उन रचनाओं के प्रकाशन की ओर ध्यान देने की कृपा करें तो उनके एक पूर्वज की कीर्ति-रक्षा ही न हो, अपितु हिंदी भाषा और साहित्य की अच्छी सेवा भी हो।

विमर्श

पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी का संयुक्त सिक्का

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५७ अंक १ के पृष्ठ ५६-६० पर कुँवर देवी-सिंह का उपर्युक्त शीर्षक 'विमर्श' प्रकाशित हुआ है। इसमें उन्होंने मुहम्मद गोरी के उस सिक्के की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसके एक ओर नागरी में 'श्रीमुहम्मद बीन साम' और दूसरी ओर 'श्री पृथ्वीराजा देव' लिखा हुआ है। उन्होंने इस सिक्के से यह निष्कर्ष निकालने का यत्न किया है कि पृथ्वीराज तराई के युद्ध में मारा नहीं गया, केवल बंदी बना लिया गया था ; अतः उसके नाम का उपयोग मुहम्मद गोरी ने किया। वस्तुतः यह कल्पना ग्राह्य नहीं जान पड़ती।

इस देश की मुद्राओं का यह इतिहास रहा है कि नवागंतुक शासकों ने पुराने शासकों के सिक्कों का अनुकरण किया और आगे चलकर अपने सिक्कों के स्वरूप में यथावश्यक परिवर्तन किए अथवा अपने मौलिक सिक्के निकाले। यह इतिहास पंजाब के यवन राजाओं से आरंभ होता है। यवन राजाओं के अनुकरण पर इस देश में उनके बाद आनेवाले शक और पह्लव राजाओं तथा कुषाणों ने अपने सिक्के निकाले। उसके बाद कुषाणों के अनुकरण पर गुप्तों ने अपने सुवर्ण के सिक्के प्रचलित किए। गुप्तों के सुवर्ण के सिक्कों पर बैठी लक्ष्मी का अनुकरण कलचुरि गांगेय देव ने किया और उनके अनुकरण पर चंदेलों, गहड़वालों और तोमरों ने अपने सोने के सिक्के बनाए। उज्जैन और सुराष्ट्र के क्षत्रपों ने यवनों के अनुकरण पर जो अपने चाँदी के सिक्के चलाए थे, उनके अनुकरण पर गुप्तों ने अपने चाँदी के सिक्के चलाए। इन चाँदी के सिक्कों का अनुकरण कलचुरि कृष्णराज, मौखरि, हूण आदि अनेक लोगों ने किया। इसी प्रकार अनुकरण का क्रम बराबर पाया जाता है।

काबुल के हिंदू शाही राजाओं के सिक्कों पर एक ओर बैठा हुआ वृष और दूसरी ओर घुड़सवार होता है। इन सिक्कों का अनुकरण बहुत हुआ है। गजनी के सुलतानों और अनेक खलीफाओं ने इनके अनुकरण पर अपने सिक्के चलाए। भारत

में इनका अनुकरण चौहानों, तोमरों आदि ने किया। अनुकरण की इसी पद्धति के अनुसार मुहम्मद गोरी का भी सिक्का है जिसकी चर्चा कुँवर महोदय ने की है। इस सिक्के पर एक ओर बैठा हुआ वृष और मुहम्मद गोरी का नाम है और दूसरी ओर घुड़सवार और पृथ्वीराज का नाम। परंतु नाम 'श्री पृथ्वीराज देव' न होकर 'श्री पृथ्वीराजा देव' लिखा है।

काबुल के शाहियों के अनुकरण पर बने सिक्कों के संबंध में एक द्रष्टव्य बात यह है कि गजनी के सुलतानों ने जो सिक्के चलाए उनपर एक ओर कूफी अक्षरों में उनका नाम है, और दूसरी ओर अलुण्ण रूप में शाही सिक्कों के अनुकरण पर वृष और शाही राजा श्री सामंतदेव का नाम है। इसी प्रकार चौहानों ने जो सिक्के इस अनुकरण पर चलाए थे उनमें तथा तोमरों के सिक्कों में भी एक ओर 'श्री सामंत देव' नाम पाया जाता है। निष्कर्ष यह कि जिन लोगों ने वृष-घुड़सवार भाँति के सिक्के का अनुकरण किया, प्रायः उन सबने काबुल के शाही राजा सामंतदेव का नाम अपने सिक्के पर बनाए रखा। इससे यह निष्कर्ष तो नहीं निकाला जा सकता कि इन सभी राजाओं ने काबुल के शाही राजा सामंतदेव को जीता था, जो इन सबसे बहुत पहले हुआ था। तात्पर्य यह कि इन लोगों ने सिक्के की भाँति का अंधानुकरण ही किया था, उसका कोई राजनीतिक महत्त्व नहीं था।

पृथ्वीराज का जो अपना सिक्का है उसपर घुड़सवार वाली ओर 'श्री पृथ्वीराज देव' अंकित है और दूसरी ओर वृष और 'आसावरी श्री सामंतदेव' लिखा है। अब यदि मुहम्मद बिन साम के इस भाँति के सिक्के को देखें, जो अब तक केवल एक ही ज्ञात है, तो विदित होगा कि इसपर पृथ्वीराज के सिक्के की भाँति ही घुड़सवार वाली ओर 'श्री पृथ्वीराजा देव' लिखा है और वृष वाली ओर, जिस ओर कि पृथ्वीराज के सिक्के पर 'आसावरी श्री सामंतदेव' लिखा हुआ था, मुहम्मद गोरी का नाम 'श्री मुहम्मद बीन साम लिखा है। इस भाँति के मुहम्मद गोरी के जो अन्य सिक्के मिले हैं उनपर पृथ्वीराज के नाम के स्थान पर 'श्री हम्मीर' लिखा है, जो अमीर का रूप है और जो तुर्क सुलतानों की उपाधि थी। इससे स्पष्ट है कि मुहम्मद गोरी ने अनुकरण वाली प्रथा के अनुसार ही अपने सिक्के बनवाए थे और संभवतः टकसाल के अधिकारियों की भूल से, जिस ओर राजा अथवा सुलतान का नाम होना चाहिए उस ओर पृथ्वीराज का नाम बना रह गया और जिस ओर परंपरा से चला आता श्री सामंतदेव का नाम था उस ओर

मुहम्मद गोरी का नाम दे दिया गया। किंतु जैसे ही यह बात लोगों के ध्यान में आई, उन्होंने पुरानी परंपरा वाला नाम तो हटा ही दिया था, इस भूल को भी सुलतान की उपाधि अंकित कर सुधार लिया। इस प्रकार इस सिक्के से कोई राजनीतिक तथ्य प्रकट नहीं होता। संभवतः कुँवर महोदय नेलसन राइट के इस कथन से प्रभावित हो गए कि उस सिक्के की पट ओर विजेता का नाम है और चित ओर विजित पृथ्वीराज का।[1]

कुँवर महोदय ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि यदि अनुकरण की बात होती तो नाम के उपयोग के लिये पूर्वी सिक्कों पर दूसरी ओर जयचंद का नाम होना चाहिए था। यतः उसका नाम नहीं है अतएव उन्होंने पृथ्वीराज के नाम के संबंध में वह कल्पना की, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। किंतु पूर्व में तो गहड़वालों का राज्य था। वहाँ गहड़वालों के सिक्के चलते थे जिनपर एक ओर केवल नाम और दूसरी ओर लक्ष्मी का चित्र होता था। इन सिक्कों के अनुकरण पर मुहम्मद गोरी के अपने सिक्के भी हैं। गहड़वालों पर विजय के पश्चात् सिक्का जारी करने पर किसी गहड़वाल राजा का नाम अंकित करने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। उनके सिक्कों की भाँति का अनुकरण ही जनता में प्रचार के लिए पर्याप्त था। यदि लक्ष्मी वाली ओर कोई लेख होता और उसका उपयोग मुहम्मद गोरी के सिक्कों पर न किया जाता तो उसका अर्थ विशेष समझा जा सकता था।

सर्वोपरि बात यह है कि आज तक जयचंद का कोई सिक्का उपलब्ध नहीं हुआ जिससे कहा जा सके कि उसने अपने सिक्के चलाए थे और उसके सिक्के का अनुकरण अपेक्षित था। एक-आध सिक्के लक्ष्मी भाँति के मिले हैं जिनपर 'श्री अजयदेव' अंकित है। कुछ लोग उन्हें जयचंद का समझते हैं पर उनके किसी गहड़वाल नरेश का सिक्का होने में संदेह किया जाता है।

१—No. 36a shows the transition stage, the obverse bearing the name of the conqueror and the reverse that of the conquered Prithvi Raja. (The Sultans of Delhi, their Coinage and Metrology, p. 67)

अंत में एक और भ्रम का निराकरण अपेक्षित है। कुँवर महोदय ने लिखा है—'आरंभ में जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी सिक्का चलाया तो जनता ने उसे

स्वीकार नहीं किया। तब उसने दिल्ली के बादशाह के नाम से उर्दू में सिक्के निकाले और तभी उनका प्रचार हो सका।' वस्तुतः ईस्ट इंडिया कंपनी ने १८३५ ई० के पूर्व अपने नाम से कोई सिक्का नहीं निकाला और उसके बाद के दिल्ली सम्राटों के नाम से प्रचलित उसका कोई सिक्का पाया नहीं जाता। उसके बाद मुगल सम्राटों का जो अपना सिक्का पाया जाता है वह या तो दिल्ली का है जहाँ उनका नाम मात्र का शासन था, अथवा जयपुर आदि जैसी कुछ रियासतों का है जिनकी निष्ठा मुगल सम्राटों के प्रति तब तक बनी हुई थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के १८३५ ई० के पूर्व के समस्त सिक्के मुगल सम्राटों के नाम से प्रचलित हुए थे, अतः जनता द्वारा उन्हें ग्रहण करने या न करने का प्रश्न ही नहीं था। बंबई आदि कुछ जगहों में अंग्रेजों ने अपनी सीमा के भीतर उपयोग के लिये कुछ सिक्के चलाए थे, जो वहीं तक सीमित थे।

—परमेश्वरीलाल गुप्त

गाथा सप्तशती*

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के केशव-स्मृति अंक में श्री मिट्ठन लाल माथुर का गाथा-सप्तशती पर एक बहुत महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में मेरे लेखों का आधार लेकर कुछ गलत सूचनाएँ दी गई हैं। यथा—

(१) पृ० २५७ पंक्ति १८—"एक प्राचीन गाथा में रविषेण नामक कवि को 'पद्मचरित' नामक बृहत् काव्य की रचना करने के कारण ही सालाहण (शालवाहन) कहा गया है। गाथा इस प्रकार है—

जेहि कए रमणिज्जे वरंग पउमाण चरिय वित्थारे।
कहव न सालाहणिज्जे ते कइणो जडिय रविसेणो ॥"

वस्तुतः इस गाथा में सालाहण का कोई संकेत भी नहीं है। 'सलाहणिज्जे' का अर्थ 'श्लाघनीय' है। गाथा का अर्थ है—'जिन्होंने रमणीय वरांगचरित और पद्मचरित का विस्तार किया वे जटिल मुनि (जटासिंह नंदि) और रविषेण किसके द्वारा श्लाघनीय नहीं हैं?' 'वरांगचरित' और 'पद्मचरित' माणिकचंद्र ग्रंथमाला में प्रकाशित हो चुके हैं।

* श्री नाथूराम प्रेमी द्वारा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को लिखे गए पत्र का एतद्विषयक आवश्यक अंश।

उक्त गाथा उद्योतन सूरि की कुवलयमाला की है। कुवलयमाला की कई गाथाएँ इसी लेख में उद्धृत हैं।

(२) पृ० २७२ पंक्ति १८—"प्राकृत भाषा के छंद और व्याकरण पर भी इसकी रचना मिलती है। स्वयंभू का व्याकरण प्रसिद्ध है।"

वास्तव में स्वयंभू के व्याकरण का उल्लेख ही मिलता है। न वह प्रसिद्ध है, न उपलब्ध ही।

(३) पृ० २७३—"(धनंजय) नाम के एक दूसरे लेखक का एक श्लोक वीरसेनकृत 'धवला' टीका में भी उद्धृत मिलता है और उसने एक प्राकृत कोश 'नाममाला' की भी रचना की है।"

धनंजय वस्तुतः संस्कृत का महाकवि है। उसका द्विसंधान महाकाव्य काव्यमाला में प्रकाशित हो चुका है। उसके कोश का नाम धनंजय नाममाला है। यह भी अनेक स्थानों से छप चुका है। परंतु यह प्राकृत का नहीं, संस्कृत का कोश है। धवला टीका में इस नाममाला का ही एक श्लोक (संस्कृत) उद्धृत हुआ है।

(४) पृ० २७३—"अमित(गति)—इस कवि की दो गाथाएँ सप्तशती में सम्मिलित हैं। यह माथुर संघ का दिगंबर जैन साधु और प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध कवि हुआ है।"

यह भी प्राकृत का नहीं संस्कृत का कवि है। इसका कोई भी प्राकृत ग्रंथ नहीं है और न इस बात का कहीं उल्लेख है। इसके संस्कृत ग्रंथ भी प्राकृत ग्रंथों के अनुवाद हैं। प्राकृत को इसने दिया कुछ नहीं, उससे लिया ही है। इसके गुरु माधवसेन का तो न कोई प्राकृत ग्रंथ है और न संस्कृत ही।

सालाहण या सातवाहन जैन था, इसका कोई प्रमाण नहीं है। जैन ग्रंथों में उसकी चर्चा अवश्य है।

—नाथूराम प्रेमी।

चयन

प्राचीन मछलियों की पहचान

भारतीय प्राणिशास्त्र विभाग के डायरेक्टर डाक्टर सुंदरलाल जी होरा ने बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका में प्राचीन भारतीय मछलियों की पहचान के विषय में अनुसंधान करते हुए कई उपयोगी लेख लिखे हैं जिनका सारांश यहाँ दिया जाता है।

१

एक लेख[1] में उन्होंने वाल्मीकीय रामायण में उल्लिखित मछलियों पर विचार किया है। रामायण में चक्रतुंड, नलमीन, रोहित, शकुल, और पाठीन—इन पाँच मछलियों का उल्लेख आता है।[2] इनका परिचय लेखक ने इस प्रकार दिया है—

चक्रतुंड (Garra mullya)—ये मछलियाँ पहाड़ी नदियों और वहीं की झीलों के साफ पानी में होती हैं। इनके मुख के पास एक चूसने की चकरी रहती है जिसके द्वारा ये तेज धार में चट्टान से चिपट जाती है। अतएव इनका चक्रतुंड नाम अत्यंत सार्थक है। ये आकार में बड़ी न होने पर भी मोटी और वसायुक्त होती हैं।

नलमीन (Mastacembelus armatus)—यह दो-तीन फुट लंबी मछली उभय पार्श्वों में चपटी नरकुल की तरह होती है। इसकी रीढ़ पर काँटे होते हैं। इसकी थूथड़ी लंबी और नुकीली होती है। आकृति में नल की भाँति होने के कारण इसका नलमीन नाम भी सार्थक है। दक्षिण में यह बड़े चाव से खाई जाती है।

१—ए० सो० (बंगाल) की पत्रिका, भाग १८ (सन् १९५२), अंक २, पृष्ठ ६१-६९

२—रोहितांश्चक्रतुंडांश्च नलमीनांश्च राघव।

पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान् हतान्॥ (३।७३।१४–१५)

रामायण के उत्तर-पश्चिमी संस्करण में शकुल और पाठीन का भी उल्लेख है।

रोहित (Labeo fimbriatus)—उत्तरी भारत में रोहित या रोहू मछली प्रसिद्ध है। यह लगभग तीन फुट लंबी होती है। यह अच्छा आहार समझी जाती है। दक्षिण में महानदी और गोदावरी नदियों से नीचे यह नहीं पाई जाती।

शकुल (Ophicephalus striatus)—इसका देशी नाम सौल (बंगाली शावल) है। इसका मस्तक सर्प की आकृति से मिलता है। इसमें विचित्रता यह है कि इसके हवा में से सीधे साँस लेने के लिये श्वास-यंत्र भी होता है, जिसकी सहायता से यह बहुत देर तक पानी में रह सकती है। इसके सिर पर साँप की तरह शल्क की आकृति के चिह्न होते हैं जिनके कारण इसका शकुल नाम पड़ा। यह दो-तीन फुट लंबी होती है। दक्षिण भारत में इसे बड़ी रुचि के साथ खाते हैं।

पाठीन (Wallago attu)—यह भी बहुत भारी और डाकू मछली है, जिसके चौड़े मुँह और कठोर जबड़े में हँसि के काँटों की तरह पीछे को मुड़े हुए दाँत भरे रहते हैं, जिनमें एक बार फँसा हुआ शिकार फिर बाहर नहीं निकल सकता। संस्कृत साहित्य में रोहित के बाद आहार के लिये इसी का मूल्य समझा जाता है। देशी भाषा में इसे पढिन या पहिना कहते हैं।

रामायण से उद्धृत श्लोक (पा० टि० २) में बाण से मछली का शिकार करने का उल्लेख है। अंडमान द्वीप में यह प्रथा अभी तक पाई जाती है जहाँ लड़के भी बाण से कछुए और बड़ी मछलियों का समुद्रतट पर शिकार कर लेते हैं। बाण नुकीले बाँस या उसके आगे लोहे की नोक लगाकर बनाए जाते हैं। पंपा सरोवर में अवश्य इस प्रकार से मछली मारने की प्रथा रही होगी जिसका वाल्मीकि को परिचय था और जिसका उन्होंने लक्ष्मण के द्वारा शिकार के संबंध में उल्लेख किया है।

आजकल पंपा झील २०४ फुट लंबी १५५ फुट चौड़ी और ४ फुट औसत गहराई का सरोवर है जो तुंगभद्रा नदी से एक फर्लांग दूरी पर है। उसमें शकुल मछली बहुतायत से होती है। सन् १६४६ में सूखा पड़ने पर बहुत सी शकुल और रोहित मछलियाँ पंपा में ऊपर तैर आई थीं। मंदिर के पुजारियों का तो कहना है कि मंदिर के चारों ओर दो मील की भूमि सदा से पंपा सरोवर के नाम से प्रसिद्ध रही है। इस स्थली के सूक्ष्म अवलोकन से विदित होता है कि किसी समय अवश्य ही यहाँ इतना बड़ा सरोवर था जो कालांतर में भर गया। चक्रतुंड, पाठीन और रोहित मछलियाँ यद्यपि तुंगभद्रा नदी में बहुतायत से होती है किंतु पंपा झील की

प्राकृतिक अवस्था के बदल जाने से और उसके अधिकांश भाग में मिट्टी भर जाने से वहाँ इन मछलियों का रहना कठिन हो गया।

२

इसके पूर्व के एक लेख[3] में डाक्टर होरा ने 'सर्वज्ञ चक्रवर्ती' चालुक्य राजा भूलोकमल्ल सोमेश्वर के लिखे बारहवीं शती के मानसोल्लास ग्रंथ के 'मत्स्य-विनोद' प्रकरण के अनुसार प्राचीन मछलियों के नाम और भेद बतलाए हैं और उनमें से अधिकांश की पहचान आधुनिक मछलियों से की है।

सोमेश्वर की सूची में इन मछलियों के नाम दिए गए हैं—सोर, शृंगसोर, चंविलोच, बल, कंटकार, संकुचक, कोवालक, खिरीड, पाठीन, सिंहतुंडक, पाटल-पिच्छक, दंतपाटल, गाग्धर, गोज्जल, विद्रुव, कंठरय, पंङ्किमान, पल्लक, तोमर, महाशील, कह्लव, नाडक, बडिश, बटगि, रोहित, स्वर्णमीन, खंडालिप, मारिल, तुंबय, वांचि, कौरत्थ, कोवाकीय, कोरक, थोग्यर, तुंबर, वामी, कौरक।

ये दो प्रकार की होती हैं—एक तो शल्कज, अर्थात् जिनके शरीर पर शल्क या छिल्के (सेहरे) होते हैं; और दूसरे चर्मज, अर्थात् शल्करहित। रहने के स्थान के अनुसार इनके दो वर्ग किए गए हैं—समुद्रोद्भव और नद्योद्भव। पुनः आकार के अनुसार ये तीन प्रकार की बताई गई हैं—महाकाय, मध्यकाय, और स्वल्पकाय। सोमेश्वर कृत इनका वर्गीकरण तथा डा० होरा के अनुसार इनकी पहिचान निम्नलिखित है—

समुद्रोद्भव चर्मज महाकाय

सोर—तमिल में इसे शुड्डा और तेलुगु में सोरा या सोर्रा कहते हैं। यह शार्क जाति की मछली है जो भारतीय समुद्र में बहुत पाई जाती है।

शृंगसोर (Pristis)—यह सींगों वाली सोर या शार्क मछली है जो समुद्र और नदीमुखों में पाई जाती है।

चंविलोच (Zygaena)—इसका सिर हथौड़े के आकार का होता है और इसकी आँखें उस हथौड़े के दोनों सिरे पर होती हैं।

३—ए० सो० (बंगाल) पत्रिका, भाग १७ अंक २, १९५१ ई०।

बल (Arius)—यह तीन फुट या इससे अधिक लंबी होती है। इसका नर इसके अंडे अपने मुँह में तब तक लिए फिरता है जब तक बच्चे नहीं निकल आते।

कंटकार (Plotosus)—इनमें कोई कोई तीन फुट से भी अधिक लंबी होती हैं। इनकी रीढ़ के काँटे भयंकर रोगोत्पादक होते हैं।

संकुचक—यह सिकुड़ और फैल सकती है, इसी से इसका यह नाम पड़ा। इस नाम से स्केट और रे मछलियों का संकेत है।

समुद्रोद्भव शल्कज

पंडिमान (Lotes calcarifer)—यह नाम संभवतः तमिल 'पंडि' (पेट) या संस्कृत पांडु (श्वेत) से बना। यह महाकाय होती है। तेलुगु में यह पंडुकोप या पंडुमीन कहलाती है।

पल्लक (Lutianus roseus)—यह मध्यकाय तथा लगभग ७॥ पौंड तक भारी होती है। रंग कुछ ललाई लिए होता है।

तोमर (Belone annulater)—यह तोमर के आकार की दो फुट लंबी मछली होती है।

समुद्रोद्भव नदीमुखी

कौरत्थ—यह समुद्र से महानदी के मुख में छः-सात योजन तक ऊपर चढ़ आती है और कर्दमहीन शिलायुक्त गहरे दहों में रहती है। यह नदी में ही पकड़ी जाती है, समुद्र में नहीं। हिलसा मछली भी, जो बंगाल और उड़ीसा में बड़े स्वाद से खाई जाती है, महानदी के मुख में दूर तक ऊपर चढ़ आती है, और वहीं पकड़ी जाती है। पर महानदी के मुहाने के पास उसके किनारे पहाड़ नहीं हैं। अतः अपने राज्य के बाहर के इस क्षेत्र के विषय में सोमेश्वर ने दूसरों से सुनकर लिखा होगा।

कोवाकीय—यह शल्कज महाकाय मछली शिलायुक्त गहरे दहों में रहती है। बहुत संभव है यह Polynemus Tetradactylus नाम की मछली हो जो भारत, मलाया और चीन के समुद्रों में पाई जाती है और छः फुट या इससे भी अधिक लंबी होती है तथा खाने में बड़ी स्वादिष्ट होती है।

नद्योद्भव चर्मज महाकाय

कोत्तासक (Mystus aor या M. seenghala)—यह नदी के तल में रहती है।

खिरीड—यह Pangasius pangasius नाम की मछली है।

पाठीन (Wallago attu)—यह कमर तक गहरे पानी में कछुओं के साथ रहती है। इसे दुर्गंधयुक्त मांस के टुकड़ों का चारा दिया जाता है। इसके जबड़ों में भीतर को मुड़े हुए बहुत से दाँत होते हैं, इसलिये इसे सहस्रदंष्ट्र कहते हैं।

सिंहतुंडक(Bagarius bagarius)—अर्थात् सिंह के समान मुंह वाली मछली। इसकी भयंकरता के कारण इसकी समानता बाघ से की जाती है। यह नदियों में पहाड़ियों के चरणों में रहती है और जलजंतुओं को बड़े चाव से खाती है।

नदोद्भव चर्मज मध्यकाय

पाटलपिच्छक (Clupisoma garua)—अर्थात् वह मछली, जिसकी पूँछ लालिमा लिए हो। यह छः पौंड तक भारी होती है।

दंतपाटल (Eutropiichthys vacha)—इसका मुँह बहुत बड़ा और चौड़ा होता है और दाँत विशेष प्रकार के होते हैं। पाँच-छः पौंड भारी होती है।

नदोद्भव शल्कज महाकाय

महाशील—(महाशीर्ष या महाशिरस्, Barbus mussulah)—संभवतः इससे महसीर नाम की बड़ी मछली का निर्देश है। सोमेश्वर के अनुसार इसे भूने चने और भात की गोलियों का चारा दिया जाता है।

कह्व (Barbus carnaticus)—यह शांत जल में रहनेवाली शांतिप्रिय मछली है।

नाडक—(Barbus curmuca)—यह चार फुट की होती है और पश्चिमी घाट में पाई जाती है। यह नलिका के आकार की होती है। नाडक= नलिकाकार।

बडिश (? Notopterus chitala)—इसका शरीर मुड़ा हुआ कँटिया के आकार का होता है। यह अठारह पौंड तक भारी होती है। तेलुगु में बडिश्य Chela baicala मछली को कहते हैं, पर यह छोटी होती है। सोमेश्वर के अनुसार भात में सत्तू मिलाकर आम बराबर गोलियाँ बनाकर इन्हें खिलाना चाहिए।

वटगि—इस मछली की पहचान नहीं हो सकी।

नदोद्भव शल्कज मध्यकाय

रोहित (Laebo fimbriata) अर्थात् लोहित वर्ण वाली मछली। यह कीचड़ और बड़े दहों में रहती है और डेढ़ फुट लंबी होती है।

स्वर्णमीन (Barbas sarana)—अर्थात् सुनहले रंग वाली मछली। संभवतः यह बंगाल की स्वर्णपुट्टी है।

खंडालिप (Mastacembelus armatus)।

मारिल (Ophicephalus striatus)—यह केकड़े खाती और दहों में रहती है। संभवतः यह कनाड़ी का मर्ल या हिंदी का मारल है।

तुंबयर (Glossogobius giuris)—तुंबुकी का अर्थ है फूले हुए गालों वाली। यह मछली फूले हुए गालों वाली होती है।

वांचि—यह पहचानी नहीं जा सकी।

नदोद्भव शल्कज स्वल्पकाय

गाग्गर (Xenentodon cancila)—गाग काग का रूप हो सकता है। तब इसका अर्थ होगा कौए की सी मछली। इस मछली के कौए की सी चोंच होती है।

गोजल (Ophicephalus punctatus)—गोज = छिछलापन। यह खाइयों या छिछले कीचड़ भरे क्षेत्रों में पाई जाती है।

विद्रुव (Carp-minnows)—यह चंचल मछली छिछले जल में रहती है और छेड़ने पर इधर उधर भाग जाती हैं। विद्रुव का अर्थ है इधर उधर दौड़ना।

कंठरय (Barilius bendelisis)—इसका अर्थ है गरदन आगे बढ़ाकर तेजी से भागनेवाली। इसकी गरदन पर काली धारी होती है। यह पश्चिमी घाट के उत्तरी भाग में पाई जाती है। कम से कम छः इंच लंबी होती है।

कोरक और थोग्यर मछलियों की भी पहचान नहीं हो सकी। तुंबर संभवतः तुंबय, वामी वांचि और कौरस्थ कोवार्कय का ही नाम है।

इस लेख में विद्वान् लेखकने भारतीय मछलियों के शिकार पर श्री मैकडानल्ड द्वारा लिखित तथा बंबई की 'नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी' द्वारा प्रकाशित अद्यतन पुस्तक से सोमेश्वर के ज्ञान की ब्योरेवार तुलना करते हुए बताया है कि सोमेश्वर ने ताजे पानी की जितनी मछलियों की सूची दी है उन सबका वर्णन मैकडानल्ड की

पुस्तक में आया है और अपने राज्य की सीमा के भीतर पाई जानेवाली शिकार की मछलियों की सूची सोमेश्वर ने पूरी पूरी दी है।

मत्स्यविनोद प्रकरण में मछलियों का परिचय देने के बाद सोमेश्वर ने यह भी बतलाया है कि विशेष विशेष मछलियों को एक स्थान पर आकर्षित करने तथा उन्हें मोटी बनाने के लिये किस प्रकार उन्हें नियमित रूप से चारा देना आवश्यक है, किस प्रकार की मछली के लिये कौन सा चारा किस प्रकार तैयार करना चाहिए, शिकार के लिये कँटिया कैसी होनी चाहिए तथा कँटिया लगाकर भिन्न-भिन्न प्रकार की मछलियों का किस प्रकार पकड़ना चाहिए।

३

एक अन्य लेख[४] में विद्वान् लेखक ने चौदहवीं से सोलहवीं शती तक के दक्षिण के आठ तमिल अभिलेखों का उल्लेख करते हुए उनके आधार पर यह बताया है कि उक्त अवधि में वहाँ सिंचाई के लिये प्रचुर संख्या में तालाब और बाँध बनवाए गए थे। इनमें तरह तरह की मछलियाँ पाली जाती थीं जिनसे पर्याप्त आय होती थी और वह आय उन तालाबों और बाँधों की रक्षा, सफाई और मरम्मत में व्यय की जाती थी। वैसे वहाँ इन तालाबों और बाँधों का अस्तित्व पाँचवीं-छठी शती से ही मिलता है, परंतु तब मत्स्य-पालन का इतना विकास नहीं हो सका था कि उससे इतनी पर्याप्त आय होती कि उसका सार्वजनिक उपयोग किया जाता।

४

एक दूसरे लेख[५] में लेखक ने अशोक के अभिलेखों में आई हुई मछलियों के नामों पर विचार किया है। इनमें पाँचवाँ अभिलेख अनेक प्रकार के जीव-जंतुओं की रक्षा के विषय में है। उसमें पाँच प्रकार की मछलियों के नाम हैं—

अनठिक मछे—यह अनस्थिक मत्स्य अर्थात् अस्थिरहित मछली है। विद्वान् लेखक के अनुसार 'अनठिक मछे' शब्द में शार्क नाम की मछलियों का उल्लेख है। अंग्रेजी शार्क की पहिचान उन्होंने तिमि नामक मछली से की है जिसे कुछ लोग ह्वेल समझते हैं। किंतु वास्तविक ह्वेल भारतीय समुद्र में नहीं पाई जाती। अतएव तिमि से शार्क का ही ग्रहण किया जाना चाहिए, जो भारतीय समुद्रों में बहुतायत से होती है।

४—ए० सो० (बंगाल) पत्रिका, वर्ष १७, १९५१, अंक १, पृ० ४१-५०

५—ए० सो० (बंगाल) की पत्रिका, भाग १६, १९५०, अंक १, पृ० ४१-५६

वेदवेयके—इस शब्द का शुद्ध संस्कृत रूप तो उपलब्ध नहीं, किंतु लेखक की सम्मति में यह सर्पाकृति लंबी मछलियों के लिये है जो अंग्रेजी ईल (eel) या नलमीन की आकृति की होती है। ये मछलियाँ कीचड़ में रहती हैं और बहुत चिकनी होने के कारण हाथ में से फिसल जाती हैं।

गंगा पुपुटके—कुछ लोग इसे पक्षी का नाम समझते हैं, परंतु श्री वेणीमाधव बरुआ ने इसकी पहचान जलचर से सुझाई थी। श्री होरा के अनुसार गंगा-पुपुटके भारतीय मीठे पानी में रहनेवाली सूँस (Dolphin, Platynista gangetica) है। 'पॉरपॉएज़' भी यही है।

संकुज मच्छे—इसका शब्दार्थ हुआ सिकुड़नेवाली। बरुआ के अनुसार यह शाकच मछली का नाम है जिसे अंग्रेजी में 'स्केट फिश' कहते हैं। श्री होरा के अनुसार यह पहिचान ठीक है। 'स्केट' और 'रे' मछलियाँ अपने शरीर को सिकोड़ने और फैलाने से बहुत दूर तक ताजे पानी में चली जाती हैं। इस नाम से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीयों को इन मछलियों के एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने का भी पता था।

कफट सयके या कफट सेयके—इस शब्द में उन गोल मछलियों (Globe fishes) का उल्लेख है जिनकी पीठ पर सेही की तरह के काँटे होते हैं। ये जहरीली होती हैं, अतः खाई नहीं जातीं। ये झूठमूठ नींद या मर जाने का ढोंग करके पड़ रहती हैं, इसी लिये इन्हें अंग्रेजी में 'पॉरकुपाइन फ़िश' कहते हैं। खटके के समय ये शरीर को फुलाकर काँटे खड़े कर लेती हैं। इनकी कुछ जातियाँ ताजे पानी में भी रहती हैं। संभवतः इनसे गंगा में होनेवाली उन मछलियों से तात्पर्य है जिनका लैटिन नाम (Tetraodon cutcutia) है।

इस अभिलेख में अशोक ने पूस की पूर्णिमा तथा चातुर्मासी पूर्णिमाओं के दिन इन मछलियों को मारने का निषेध किया है। इसका कारण यह ज्ञात होता है कि पूर्णिमा के आसपास इन मछलियों के गर्भाधान का समय होता है, जैसा कि आधुनिक पर्यवेक्षण से भी पता चला है। इसी लेख में विद्वान् लेखक ने प्राचीन भारत में मत्स्य मारने के प्रतिषेध संबंधी कुछ नियमों की युक्तिसंगतता पर भी विचार किया है। विशेषतः उनका मत है कि अशोक के नियम बहुत वैज्ञानिक हैं।

५

इस विषय के पाँचवें लेख में जो अभी अप्रकाशित है, लेखक ने निम्न-लिखित मछलियों का विवरण दिया है—

शफरी (Puntius sophore)—गौतम धर्मसूत्र और वसिष्ठ धर्मसूत्र में इस मछली का बहुत बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। संस्कृत के विद्वानों ने इसका अर्थ किया है कोई छोटी मछली। पर बंगाल में अब भी इसका नाम बदला नहीं है, इससे यह सरलता से पहिचानी जाती है। यों यह बहुत साधारण मछली है, पर इसका धार्मिक महत्त्व विशेष है। बौधायन गृह्यसूत्र में कहा गया है कि विवाह-संस्कार के पाँचवें दिन गृहस्थ को घुटने भर पानी में खड़े होकर पितरों को खिलाने के लिये अपने वस्त्र से मछली पकड़नी चाहिए। बंगाल में अब भी यह पवित्र मानी जाती है।

शतबली (Mastacembelus armatus)—आपस्तंब धर्मसूत्र में कहा गया है कि यह मछली अर्पण करने से पितृगण बहुत समय तक तृप्त रहते हैं, अन्य मछलियों से केवल तीन वर्षों तक तृप्त रहते हैं। बौधायन गृह्यसूत्र के अनुसार इसे अष्टका-होम के समय चढ़ाना चाहिए। शत = सौ, और बली संभवतः भल्ली (काँटों वाली) है। यह छिछले और कीचड़ भरे पानी में बहुत पाई जाती है और अत्यंत स्वादिष्ट होती है।

महाशल्क (Tor putitora, सुनहली या हिमालय की महसीर)—इसके बड़े बड़े सेहरे होते हैं और यह पहाड़ी नदियों में पाई जाती है। मनुस्मृति के अनुसार इसे अरण्यवासी मुनि लोग खाते हैं और इसे ब्राह्मण को दान करने से पितृगण अनंत काल तक तृप्त रहते हैं। याज्ञवल्क्य और विष्णु स्मृतियों में भी इसका महत्त्व बताया गया है। बंगाल में इसे महाशोल कहते हैं, जो संस्कृत नाम के निकट है।

चेट—आपस्तंब और वसिष्ठ धर्मसूत्रों के अनुसार इसे खाना वर्जित है। किसी संस्कृत कोश में इस नाम की मछली न होने से इसकी पहिचान कठिन है। यह बंगाल की मृगेल (Cirrhina mrigala) होनी चाहिए, क्योंकि मृगेल भी चर्मरोग उत्पन्न करने तथा गंदी चीजें खाने के कारण वर्जित है।

सर्पशीर्ष (Ophicephalus)—ये सर्प के समान सिरवाली तथा मांस खानेवाली होती हैं। ये आपस्तंब और वसिष्ठ धर्मसूत्रों की वर्जित मछलियों में से हैं। धर्मसूत्रों में मांस खानेवाली तथा विकृत रूपवाली मछलियाँ वर्जित हैं।

मृदुर (Horpodon nehereus)—मृदुर का अर्थ है मृदुल या कोमल। ताजी अवस्था में यह खाने योग्य नहीं होती और इसके जबड़े भयानक होते हैं, संभवतः इसी से आपस्तंब धर्मसूत्र में वर्जित है।

मनुष्यशीर्ष (Tetraodon)—यह मनुष्य के से सिरवाली तथा विषैली होती है। उक्त धर्मसूत्र के अनुसार यह भी वर्जित है।

सहस्रदंष्ट्रा (Eutropiichthys vacha)—अर्थात् सहस्र दाँतों वाली। इसके जबड़ों और तालु में बहुत से दाँत होते हैं। बौधायन धर्मसूत्र में यह खाने योग्य मछलियों में गिनी गई है। यद्यपि संस्कृत कोशों में सहस्रदंष्ट्रा पाठीन का पर्याय है, परंतु पाठीन के उतने अधिक दाँत नहीं होते। क्षीरस्वामी के अनुसार सहस्रदंष्ट्रा नाम इसलिये पड़ा कि यह अपने तेज दाँतों से अपना शिकार आसानी से पकड़ लेती है।

चिलिचिम—अमरकोश की एक टीका के अनुसार यह वायु, पित्त और कफ बढ़ाती हैं। इसके कई नाम हैं; यथा—चिलिचीम, चिलिमीन, चृचीम, चिलोचिमी, चिलोचिम इत्यादि। यह हिलसा (Hilsa ilisha) है। बौ० धर्म० के अनुसार यह खाने योग्य होती है।

बृहच्छिर (Catla catla)—इसका सिर सब मछलियों से बड़ा होता है।

मशकरी (Puntius sarana)—बौ० धर्म० के अनुसार यह खाद्य मछली है। कोशों में यह नाम नहीं मिलता। इसे समशकरी, समसकरी या महाशकरी भी पढ़ा गया है, जो महाशफरी भी हो सकता है। यहाँ संभवतः स्वर्णपुटी से तात्पर्य है।

रोहित (Labeo rohita)—बौधायन और विष्णु धर्मसूत्रों तथा मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में यह खाने योग्य बताई गई है।

राजीव (Mugil corsula)—यह सैनिक व्यूह के रूप में चलती है और अपने सिर का कुछ भाग पानी के बाहर निकाले रहती है। उक्त धर्मसूत्रों और स्मृतियों में यह खाद्य बताई गई है।

पाठीन (Wallago attu)—मनु, याज्ञवल्क्य और विष्णु के अनुसार यह खाद्य है।

सिंहतुंड या सिंहतुंडक (Bagarius bagarius)—मनु, याज्ञवल्क्य और विष्णु के अनुसार यह खाद्य है।

सशल्क—शल्क या सेहरेवाली मछलियाँ। मनु और याज्ञवल्क्य ने सभी सशल्क मछलियों को द्विजों के लिये खाद्य बताया है।

शकुल (Opicephalus striatus)—यह बंगाल की शाकुल मछली है। इसका सिर सर्प का सा होता है। आपस्तंब और वसिष्ठ में यह वर्जित है, परंतु विष्णु के अनुसार खाद्य है।

मछलियों के अतिरिक्त अन्य जलजीव

(१) गवय (Dugong) ह्वेल वर्ग का स्तनपायी जलजीव है; (२) शिशुमार सोइँस या सूँस (Dolphin) है जिसे बंगाल में अब भी शिशु कहते हैं; (३) नक्र या मकर (Crocodile) ; (४) कुलीर या केकड़ा। ये चारों ही वसिष्ठ के अनुसार वर्जित हैं।

उपर्युक्त विवरण से लेखक ने निष्कर्ष निकाला है कि ई० पू० ६०० से ई० २०० तक मछली सामान्य रूप से हिंदुओं का गुणकारी आहार मानी जाती थी, यद्यपि कुछ मछलियाँ वर्जित थीं। खाने योग्य मछलियों में सर्वोत्तम महाशल्क थी, उसके बाद रोहित, पाठीन, सिंहतुंड, शतबली, शफरी इत्यादि। वर्जित जलजीवों में केवल सर्पशीर्ष मछलियाँ तथा केकड़े ही खाने योग्य होते हैं। स्मृतियों में मछली के उपयोग के संबंध में परस्पर विरोधी उक्तियाँ हैं जो उन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक प्रभावों की सूचक हैं, जिनके कारण बाद में सभी प्रकार का आमिषाहार वर्जित माना गया।

—वासुदेवशरण अग्रवाल
तथा पुरुषोत्तमलाल

निर्देश

हिंदी

अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के प्राचीन हिंदी ग्रंथ—अगरचंद नाहटा; सम्मेलन-पत्रिका, ३८।४ [बीकानेर का उक्त राजकीय पुस्तकालय अपने संग्रह की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें संस्कृत के ग्रंथों की प्रधानता है। लगभग बारह हजार हस्तलिखित ग्रंथ हैं। हिंदी के भी इसमें कितने ही ऐसे प्राचीन ग्रंथ हैं जो अन्यत्र अप्राप्य हैं। इनमें से अनेक के नाम और परिचय इस लेख में दिए हैं।]

उत्तर भारत की जैन मूर्तिकला—कृष्णदत्त वाजपेयी; शिक्षा, ५।१ [साहित्यिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ई० पू० ६०० में जैन स्तूपों का निर्माण हो चुका था। प्राचीन अवशेषों से भी विदित होता है कि ई० सन् के पूर्व स्तूपों, विहारों और प्रतिमाओं का निर्माण हो चुका था। उस काल की प्रतिमाएँ अत्यंत कलापूर्ण हैं। मथुरा की जैन मूर्तिकला में प्राकृतिक दृश्यों तथा विविध मुद्राओं में स्त्रियों के अंकन की प्रधानता है। कुषाणकाल-गुप्तकाल-मध्यकाल में अलंकरण अधिक है। मुसलमानी काल में आकर इस कला का ह्रास होता है।]

उत्तरलाव यंत्र संबंधी एक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रंथ—अगरचंद नाहटा; जैन-सिद्धांत-भास्कर, १८।२ [बीकानेर अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में स्थित 'उत्तरलाव यंत्र सटीक' नामक हस्तलिखित ज्योतिष ग्रंथ का विवरण। पुस्तक में कुल बारह पन्ने हैं, दो में मूल संस्कृत तथा शेष में मूल के साथ राजस्थानी में टीका है। यह प्रति चैत्र कृष्ण ८, रविवार सं० १६०० की लिखी है। कर्ता विनयसुंदर का शिष्य मेघरत्न है। लेख में इस ग्रंथ का नमूना भी है तथा परिशिष्ट में इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका से इस नक्षत्रवेधी यूनानी यंत्र का वर्णन उद्धृत है।]

कांपिल्य का विश्वविद्यालय—श्रवणकुमार पंचोरी; शिक्षा, ५।१ [उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में कायमगंज के समीप गंगातट पर बसा हुआ कंबल गाँव प्राचीन कांपिल्य है। महाभारत-काल में नैनीताल के दक्षिणी भाग से लेकर दक्षिण में चंबल तक पांचाल राज्य था जिसकी यह राजधानी थी। उपनिषत्काल से ही यहाँ शिक्षा का प्रचार था; स्त्रियाँ भी शिक्षित थीं। यजुर्वेद, बृहदारण्यक, छांदोग्य, महाभारत, चरक आदि के उल्लेखों से विदित होता है कि यहाँ बहुत बड़ा शिक्षा-केंद्र था जहाँ आधुनिक विश्वविद्यालयों की भाँति विविध विषयों में अनुसंधान कार्य होता था। इसके विषय में खोज अपेक्षित है।]

जातक की कहानियों में विद्याओं की झलक—मन्मथराय; शिक्षा, ४।४ [त्रिपिटक के सुत्तपिटक में खुद्दक निकाय के अंतर्गत धम्मपद, उदान, सुत्तनिपात, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, बुद्धवंश और संकलन चरिया पिटक हैं। जातक में बोधिसत्व के जन्म-कर्म की कहानियाँ हैं। इन जातकों में १८ विद्याओं तथा ३३ अन्य प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है। जातक की कथाएँ यथार्थ जीवन की हैं। उक्त विद्याओं का यथार्थ जीवन में उपयोग होता था। लेख में इन विद्याओं का विवरण है।]

भारतीय स्थापत्य का विदेशों में प्रचार—कृष्णदत्त वाजपेयी; शिक्षा, ४।१ [प्राचीन भारत में स्थापत्य की अच्छी उन्नति हुई थी और इस विषय पर मानसार, मयमतम्, शिल्पसार, तंत्रसमुच्चय, काश्यपशिल्प, मानसोल्लास आदि ग्रंथ भी लिखे गए थे। ई० पू० दूसरी शती के अंत में मध्य एशिया में भारतीय, प्रधानतः बौद्ध, बस्तियाँ थीं। फरात के कांठे में बसे बौद्धों ने दो मंदिर वहाँ बनवाए। खोतन में विजयसंभव नामक बौद्ध राजा था, वहाँ भी शृंग विहार और गोमती विहार बने थे। ई० सन् के प्रारंभ में पूर्व एशिया में ब्रह्मदेश, श्याम, कंबोडिया, अनाम तथा हिंदेशिया के द्वीपों में भारतीय बसे और उन्होंने बौद्ध तथा हिंदू मंदिर बनवाए। बृहत्तर भारत वंक्षु और तारीम से हिंदचीन और हिंदेशिया द्वीपों तक था। इस संपूर्ण विस्तृत क्षेत्र में भारतीय स्थापत्य का प्रभाव स्पष्ट है।]

रणमल्ल छंद पर कुछ शब्द—दशरथ शर्मा; शोध पत्रिका, ३।४ [हिंदी साहित्य के इतिहास में वीरगाथा काल में उल्लिखित बीसलदेव रासो, खुमान रासो आदि अर्वाचीन हैं। इनसे वीरगाथा काल का ठीक परिचय नहीं मिलता। भरतेसर बाहुबलि घोर, भरत बाहुबल रास, रणमल्ल छंद, कान्हड़दे प्रबंध आदि वीरकाव्यों तथा प्राकृतपिंगल जैसे ग्रंथों के उदाहरण सामने रखकर वीरगाथा काल के इतिहास का पुनर्निर्माण होना चाहिए। श्रीधर कवि के रणमल्ल छंद की रचना संभवतः ई० १३९८ में या उसके बाद ही हुई थी। प्राचीन गुर्जर काव्य में इसका संपादन हो चुका है और ऐतिहासिक समालोचना भी हुई है परंतु और अध्ययन अपेक्षित है। इसमें ईडरपति रणमल्ल और गुजरात के सूबेदार मलिक मुफर्रह के युद्ध का वीररसपूर्ण वर्णन है।]

हेमरतन कृत पद्मिनी चउपई—उदयसिंह भटनागर; शोधपत्रिका, ३।४ [लेख में उक्त पुस्तक की नौ प्रतियों की सूचना दी गई है और उसके आधार पर

लिखी गई अन्य रचनाओं, यथा जटमल के गोरा-बादल, लब्धोदय के पद्मिनी-चरित्र आदि का विवरण दिया गया है ।]

अंग्रेजी

अफगानिस्तान, ए ग्रेट माउंटेनस मेसोपोटामिया—अहमद अली खिज़ा; 'ईस्ट एँड वेस्ट', ३।२ [अफगानिस्तान (प्राचीन एरियाना) का प्राचीन से आधुनिक काल तक का संक्षिप्त ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिचय ।]

आर्किटेक्चुरल डेटा इन जैन कैनॉनिकल लिट्रेचर—मोतीचंद्र, रा० ए० सो० (बंबई शाखा) पत्रिका, २६।२ [जैन ग्रंथों में गृह, ग्राम, नगर आदि के प्रकारों तथा उनके निर्माण की विधियों का जो वर्णन मिलता है उसका विवरण ।]

उर्वशी एँड पुरूरवा—डी० डी० कोशांबी, रा० ए० सो० (बं० शा०) पत्रिका, २७।१ [कालिदास द्वारा अपने काव्य में प्रयुक्त उर्वशी और पुरुरवा की कथा का मूल ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण और पुराणों में है । उस कथा का क्या तात्पर्य है तथा उसमें समय-समय पर होनेवाले परिवर्तनों के समय भारत की सामाजिक व्यवस्था क्या थी, इसका विवेचन ।]

एंशंट सिटीज़ एँड टाउन्स इन द महाभाष्य—पी० वी० काने; रा० ए० सो० (बं० शा०) पत्रिका, २७।१ [पातंजल महाभाष्य में उल्लिखित बीस नगरों का स्थल-निर्देश एवं विवरण ।]

ए नोट ऑन द वर्ड लावण्य—जी० बी० पलसुले; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका, ३२।१-४ [लावण्य की व्युत्पत्ति लवण से नहीं 'रमण' से सिद्ध की गई है । रमण से रामण्य, र का ल और म का व होकर लावण्य ।]

ऑन द प्रोग्रेस ऑव जैन एँड प्राकृत स्टडीज़—ए० एम० घटगे; जैन एंटिक्वेरी, १७।२ [जैन मत तथा जैनों द्वारा रचे प्राकृत ग्रंथों का अब तक जो अध्ययन हुआ है उसका लेखा तथा उसमें रह गई त्रुटियों का निर्देश ।]

ओरिजिनल होम ऑव द इंपीरियल गुप्ताज़—बी० पी० सिंह; बि० रि० सो० पत्रिका, ३७।३-४ [साधारणतः माना जाता है कि गुप्त सम्राटों का मूल निवास मगध था । डा० सी० गांगुली ने उसे पश्चिम बंगाल में मुर्शिदाबाद में माना है और आर० सी० मजूमदार ने इसका समर्थन किया है । परंतु यह भूल इस कारण हुई कि उत्तर-पश्चिम की ओर से इत्सिंग की भारत-यात्रा के मार्ग पर

पूरा ध्यान नहीं दिया गया। श्रीगुप्त द्वारा निर्मित चीनी मंदिर नालंदा के बहुत पश्चिम उत्तरप्रदेश में होना चाहिए। गुप्तों का मूल स्थान मथुरा या अयोध्या में असंभव नहीं।)

कण्व इन ऋग्वेद—एन० जी० चापेकर; रा० ए० सो० (बं० शा०) पत्रिका २७।१ [ऋग्वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों में कण्व शब्द का उल्लेख, उसके रूप तथा अर्थ।]

ज्योतिरीश्वर—रामनाथ झा; बि० रि० सो० पत्रिका ३७।३-४, [मैथिली भाषा के सबसे प्राचीन साहित्यिक ग्रंथ वर्णरत्नाकर के कर्ता ज्योतिरीश्वर कौन थे तथा उनका समय क्या था, इसपर दरभंगा राज-पुस्तकालय में स्थित पंजियों के आधार पर विचार।]

टैगोर ऐंड इटैली—एनरिचो पपाचीनो; 'ईस्ट ऐंड वेस्ट', ३।२ [रवींद्रनाथ ठाकुर की रचनाओं का इटली के शिष्ट-समाज पर किस प्रकार का प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन।]

द कंपोजिशन ऑव अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता—एडवर्ड कांजे (Conze); स्कूल ऑव ओरियंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज़ की पत्रिका, १४।२ [प्रज्ञापारमिता में क्षेपक हुए हैं जिनका अलग करना महायान के विकास के अध्ययन के लिये आवश्यक है। इस लेख में ग्रंथ के अंतिम अंश की पाठ-परीक्षा तथा 'रत्नगुणसंचय-गाथा' से तुलना की गई है।]

द कांकेस्ट ऑव वेस्टर्न इंडिया बाइ ललितादित्य ऑव कश्मीर-एच० गोएज़; रा० ए० सो० (बं० शा०) पत्रिका, २७।१ [आठवीं शती के मध्य में भारतीय इतिहास में परिवर्तन। गुप्तों, वाकाटकों, चालुक्यों और पल्लवों से संबद्ध प्राचीन संस्कृति का अंत, तथा प्रतिहार, पाल, राष्ट्रकूट, और चोलों की मध्यकालीन संस्कृति का उदय। भारी परिवर्तनकाल। इस भारी परिवर्तन की कारणभूत कोई प्रमुख घटना उस समय अवश्य घटी। वह घटना कल्हण द्वारा वर्णित कश्मीर के ललितादित्य द्वारा पश्चिम, उत्तर तथा अधिकांश दक्षिण भारत की विजय है। कल्हण के विवरण का समर्थन अनेक तथ्यों से होता है।]

द संस्कृत इक्विवैलेंट्स ऑव टू पाली वर्ड्स—डी० डी० कोशांबी; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका, ३२।१-४ [सम्मापासो और वस्सकार के संस्कृत पर्याय क्रमशः सम्यक्पाश और वर्षकार माने जाते हैं, लेखक ने इनके पर्याय क्रमशः सम्याप्राश एवं वश्यकार बताए हैं।]

द होम ऑव द वाकाटकाज—वि० वि० मिराशी; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका ३२।१-४ [प्राचीन काल में नर्मदा से तुंगभद्रा तक वाकाटकों का प्रतापशाली राज्य था। पर इनका समय अनिश्चित है। विदेशी विद्वानों ने पाँचवीं से आठवीं शती तक माना है, पर जायसवाल ने समुद्रगुप्त के भी पूर्व माना है। इनका मूल स्थान उत्तर में माना जाता है, पर वस्तुतः वह मध्य दक्षिण में था।]

दि एपॉस्टल सेंट टामस ऐंड इंडिया—मेरियो बुसाग्ली; 'ईस्ट ऐंड वेस्ट' ३।२ [क्रीष्टीय परंपरा में प्रसिद्ध है कि सेंट टामस ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में भारत आए थे और यहाँ उन्होंने ईसाई मत का प्रचार किया था। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर इस विषय पर विचार किया गया है, कोई निश्चित ऐतिहासिक निष्कर्ष नहीं निकल सका है।]

प्रिमौर्यन हिस्ट्री ऑव बिहार—डी० एस० त्रिवेद; बि० रि० सो० पत्रिका, ३७।३-४ [मौर्यों के पूर्व का बिहार का इतिहास (पिछले अंक से क्रमशः)।]

भर्तृहरि ऐंड दिङ्नाग—एच० आर० रंग स्वामी आयंगर; रा० ए० सो० (बं० शा०) पत्रिका २६।२ [भर्तृहरि का मृत्यु-काल इत्सिंग ने ६५० ई० के लगभग लिखा है, इसी आधार पर भर्तृहरि का समय सातवीं शती माना जाता है। परंतु भर्तृहरि के गुरु वसुरात थे और वसुरात, वसुबंधु तथा चंद्र समकालीन थे, अतः भर्तृहरि का काल पाँचवीं शती है। पाँचवीं शती के दिङ्नाग ने भर्तृहरि से उद्धरण दिया है, इससे भी यही सिद्ध होता है।]

सम वेदिक वर्ड्स व्यूड इन द लाइट ऑव गाथाज—आई० जे० एस० तारापुरवाला; रा० ए० सो० (बं० शा०) पत्रिका, २६।२ [अत्रि, असुर, ऋषि, ऐतरेय, रत्, वभ्, वेन, श्वान्त, स्वर्, स्नु—इन वैदिक शब्दों की, तुल्य अवेस्ता शब्दों से तुलना।]

व्यास—बुद्ध प्रकाश; बि० रि० सो० पत्रिका ३७।३-४, [व्यास के अपभ्रंश और प्राकृतिक रूप ब्रास, ब्रासु। भारतीय लोग मौर्य-काल में बेबिलोनिया के बेरोसस से परिचित हुए। व्यास और बेरोसस दोनों ने जलप्रलय का वर्णन किया है। विंटरनीज और सुखथनकर मनु और जलप्रलय की कथा को अनार्य मानते हैं। कृष्ण द्वैपायन और बेरोसस का कार्यक्षेत्र एक होने से कृष्ण द्वैपायन को बेरोसस की पदवी दी गई। यही ब्रासु या ब्रास का मूल है। व्यास कोई एक व्यक्ति न था; विष्णुपुराण में अट्ठाईस व्यास उल्लिखित हैं। वैदिक साहित्य या पाणिनि में यह शब्द नहीं है। व्यास नाम नहीं, विशेषण है।]

समीक्षा

पूर्व आधुनिक राजस्थान—लेखक डा० रघुवीर सिंह, डी० लिट्०; प्रकाशक, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर-मेवाड़; पृ० २६ + ३७४ डिमाई अठपेजी; मू० ६) अजिल्द तथा ७) सजिल्द।

लेखक हिंदी जगत् के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिकों तथा इतिहासकारों में से हैं। उन्होंने अधिकार और सफलता के साथ इस ग्रंथ का प्रणयन किया है। उनमें बौद्धिक योग्यता और अध्यवसाय के साथ साथ सहज समवेदना और सहानुभूति भी है जो किसी प्रदेश के जीवन एवं इतिहास को समझने के लिये आवश्यक है। आधुनिक मालवा के मर्मज्ञ इतिहासकार डा० रघुवीर सिंह के लिये राजस्थान के इतिहास में प्रवेश सहज तथा स्वाभाविक है, क्योंकि दोनों प्रदेश न केवल पड़ोसी, अपितु भूगोल, जाति, राजनीति, संस्कृति आदि कई बंधनों से संबद्ध हैं; वास्तव में आधुनिक राजस्थान का दक्षिण-पूर्व भाग एक समय मालव का अभिन्न अंग था।

अभी तक भारतीय इतिहास के लेखक प्रायः सामग्रियों—व्यक्तियों, घटनाओं और पदार्थों—का संकलन करते रहे हैं; इतिहास के पुनर्निर्माण की जो थोड़ी बहुत चेष्टा हुई है उसमें अस्थिपंजर खड़ा करने से आगे बहुत कम ने साहस किया है। वास्तव में सामग्रियों का संग्रह इतिहास नहीं है; आधारभूत होते हुए भी वह अपूर्ण तथा प्राणहीन है। घटनाओं और व्यक्तियों के बीच क्रम, व्यवस्था, पूर्वापर अथवा कार्य-कारण संबंध, प्रभाव आदि को ढूँढ़ निकाले बिना इतिहास-कला केवल यांत्रिक तथा असफल रहेगी। अतः इतिहासकार में घटनाओं का विश्लेषण, उनका विवेचन तथा उनकी व्याख्या करने की क्षमता आवश्यक है। 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' के विद्वान् लेखक ने घटनाओं का चयन तथा उनका संघटन तो सामान्य रूप से किया है, किंतु उनका विश्लेषण और उनकी व्याख्या बड़ी सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण दृष्टि से की है। ई० सन १५२६ से लेकर १६४७ तक राजस्थान में जो प्रमुख राजनैतिक घटनाएँ घटी हैं उनकी राजवंशों और साधारण जन-जीवन पर क्या प्रतिक्रिया हुई, इसका विशद विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में मिलता है। हिंदी में इतिहास-लेखन की यह व्याख्यात्मक शैली अभिनंदनीय है और इस सफल प्रयास के लिये

लेखक धन्यवाद के पात्र हैं। राजस्थान के वर्तमान जीवन में उसके इतिहास के अध्ययन का क्या महत्त्व है, इस प्रश्न पर प्रकाश डालकर लेखक ने इस ग्रंथ का सामयिक वैशिष्ट्य और अधिक बढ़ा दिया है।

एक दो बातों पर लेखक से मतभेद हो सकता है। उन्होंने राजस्थान में आधुनिक युग का प्रारंभ १५२६ ई० से माना है, संभवतः इसलिये कि युरोप में आधुनिक काल इसी समय के आसपास शुरू होता है। परंतु वास्तव में आधुनिक काल का प्रारंभ कोई सीधा तिथिक्रम नहीं है; जीवन में महत्त्वपूर्ण संक्रमण तथा आधुनिकता के साथ उसका पदार्पण होता है। युरोप में आधुनिक काल वैज्ञानिक आविष्कार, अनुसंधान, जीवन के यंत्रीकरण, राष्ट्रवाद, जनता में वैधानिक चेतना आदि के साथ प्रवेश करता है। मुगलों के आगमन के साथ इनमें से किसी का भी संबंध नहीं है; बारूद, बंदूक और तोप तो उन्हें संपर्क और लूट में मिल गए थे; स्वयं उनमें आविष्कार की क्षमता और जीवन को आधुनिक बनाने की योग्यता नहीं थी। सच बात तो यह है कि मुगलों ने भारत में मध्यकाल को लगभग दो सौ वर्षों का और जीवन-दान दिया। राजस्थान की प्रतिक्रिया, प्रतिरोध और संघर्ष भी शुद्ध सैनिक तथा राजनैतिक थे; उनमें कुछ आधुनिकता नहीं थी। जब भारत के अन्य भागों में कुछ आधुनिकता आ भी गई, तब भी राजस्थान मध्यकालीन बना रहा और यह कहना अनुचित न होगा कि मुगलों का अंशतः अनुकरण कर अंग्रेजों ने राजस्थान में सामंतवाद और उसके ऊपर अपनी 'पादशाही' को स्थिर रखा, जो अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद समाप्त हुए।

शुद्ध आधुनिक दृष्टिकोण और सामयिक उपयोगिता के मापदंड से मध्यकालीन घटनाओं और व्यक्तियों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। मध्यकाल की परिस्थितियाँ, प्रवृत्तियाँ, समस्याएँ और उनके हल आज से भिन्न थे और उस समय के युग-पुरुषों ने अपने ढंग से अपने युग का नेतृत्व किया। सांगा, प्रताप और शिवा जी अपने देश, धर्म और परंपरा के रक्षक थे और अपने युग की भारतीय प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे। परंतु अतीत के व्यक्तियों और घटनाओं का महत्त्व, परिस्थितियों के बदल जाने पर भी, वर्तमान जीवन में सिद्धांत रूप से है। वह सिद्धांत है विदेशी आक्रमण और सत्ता का विरोध। इस समय राजस्थान अथवा भारत के ऊपर कोई बाहरी आक्रमण नहीं है और केंद्र में अपनी सरकार है; इसलिये आज के समय के अनुसार यह ठीक है कि राजस्थान को भारत की राष्ट्रीयता और इकाई में अपना विलय कर देना चाहिए। परंतु विदेशी सत्ता के

प्रतिरोध का जो सिद्धांत राजस्थान ने अतीत में उपस्थित किया था वह राजस्थान और भारत के लिये आज भी मान्य है। विदेशी आक्रमण किसी भी समय हो सकता है और विदेशीयता का अंत केवल केंद्र में भारतीय सरकार स्थापित होने से नहीं हो जाता। सैनिक और राजनैतिक रूप छोड़कर विदेशी सत्ता अर्थनीति, विचार-धारा, भाषा, संस्कृति आदि का चोला धारण कर सकती है। इन नए प्रकार के आक्रमणों का प्रतिरोध भी एक आवश्यक राष्ट्रीय कर्तव्य है और इसके लिये पर्याप्त प्रेरणा आज भी राजस्थान के इतिहास से मिल सकती है। विदेशी आक्रमण—सैनिक अथवा बौद्धिक—के परिणामों में प्रतिक्रिया और प्रतिषेध के अतिरिक्त आतंक, भय, भुलावा तथा प्रलोभन भी होते हैं। जहाँ स्वाभिमानी, मनस्वी तथा सशक्त व्यक्ति आक्रमण का विरोध कर संघर्ष का मार्ग ग्रहण करते हैं वहाँ सुख-प्रिय कायर और लोभी व्यक्ति समर्पण, सहयोग और सेवावृत्ति अपनाते हैं। इन दूसरे प्रकार के व्यक्तियों द्वारा देश के वास्तविक आदर्शों और स्वार्थों को किस प्रकार धक्का लगता है, इसके भी उदाहरण राजस्थान के इतिहास में मिलते हैं। स्थानीय इतिहास की यह निषेधात्मक नीति है और इसका भी आधुनिक महत्त्व है। राजस्थानीय इतिहास के सामयिक तथा स्थायी पक्षों पर समान रूप से प्रकाश डालना वांछनीय है।

इन थोड़े से मतभेदों के होते हुए भी जिस उद्देश्य और प्रणाली से डा० रघुबीर सिंह ने अपने इस नए ग्रंथ का प्रणयन किया है वे प्रशंसनीय हैं और उनसे भारतीय इतिहास की लेखन-कला को एक नया मार्ग और प्रेरणा मिलेगी।

—राजबली पांडेय

जनपद (त्रैमासिक, खंड १ अंक १, कार्तिक २००६)—संपादक-मंडल : सर्वश्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० उदयनारायण तिवारी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। कार्य-निर्वाहक संपादक श्री बैजनाथसिंह 'विनोद'। प्रकाशक हिंदी जनपदीय परिषद्, कुलपति निवास, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। एक प्रति का मूल्य १॥), वार्षिक ६)

हिंदीभाषी जनपदों में वहाँ के लोक-साहित्य के संग्रह और अध्ययन का जो कार्य कुछ उत्साही विद्वानों द्वारा छिट-फुट रूप में किया जा रहा था उसे सुसंघटित एवं वैज्ञानिक रूप देकर शीघ्र गति से आगे बढ़ाने के उद्देश्य से अप्रेल १९५२ में 'हिंदी जनपदीय परिषद्' की स्थापना हुई थी, जिसके संरक्षक राष्ट्रपति डा० राजेंद्र

प्रसाद, सभापति आचार्य नरेंद्रदेव तथा मंत्री श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हैं। 'जनपद' इसी परिषद् का योग्य मुखपत्र है और इसके पहले ही अंक से इसके गंभीर कर्तव्य-बोध तथा इसके आशापूर्ण भविष्य की सूचना मिलती है। केवल जनपदीय कार्यकर्ताओं के लिये नहीं, हिंदी तथा उसके द्वारा देश की उन्नति की स्वस्थ कल्पना जिनके मन में है उन सभी लोगों के लिये इसका स्वागत हर्ष का विषय है।

प्रस्तुत अंक में जनपदीय अध्ययन संबंधी विविध विषयों के ग्यारह-बारह लेख हैं, उनके बाद 'जनपदीय प्रगति' तथा 'जनपदीय सार सूचनाएँ' हैं, फिर संपादकों द्वारा 'जनपद' का लक्ष्य तथा तत्संबंधी अन्य ज्ञातव्य प्रस्तुत किए गए हैं। प्रारंभ में डा० राजेंद्रप्रसाद का उद्घाटन-भाषण (जनपदीय कार्यकर्ता सम्मेलन, हाथरस, ४ अप्रेल १६५२) और अंत में 'सभापति का निवेदन' है। कुछ लेख अध्ययन की विशेष रोचक सामग्री उपस्थित करते हैं। यथा 'विंध्य के एक जंगली गाँव का वर्णन' (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, 'हर्षचरित' से), 'बुंदेली कहावतें' (हरगोविंद गुप्त), 'बैल संबंधी कुछ शब्द' (हरिहर प्रसाद गुप्त), 'भोजपुरी के संबंधवाचक सर्वनामों की व्युत्पत्ति' (डा० उदयनारायण तिवारी)।

परिषद् ने जिस बृहत् एवं जटिल कार्य को हाथ में लिया है उसकी पूर्ति के लिये जिस सम्यक् दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है, जिसे हम परिषद् के मुखपत्र में उत्सुकता से ढूँढ़ते हैं, उसको उपस्थित करने का प्रयत्न हमें 'लोक-साहित्य का अध्ययन' (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी) में मिलता है। लोक-साहित्य का क्या अर्थ है, इसके संग्रह की प्रेरणा कहाँ से आई, भारत में इस कार्य में क्याविशेष कठिनाइयाँ हैं, लोक-साहित्य के संग्रह का क्या विशेष उद्देश्य और महत्त्व हैऔर वह किस दृष्टि से किया जाना चाहिए, आदि बातों पर इसमें द्विवेदीजी ने सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि से विचार किया है। अगले अंकों में, आशा है, वे कार्य की एक सुविचारित योजना भी प्रस्तुत करेंगे।

लोक-साहित्य के अनेक विद्वानों का झुकाव प्राचीन के पुनःप्रवर्तन अथवा किसी वर्तमान उपेक्षित बोली को भाषा के रूप में प्रमुखता देने की ओर प्रायः देखा जाता है। किंतु यह झुकाव, चाहे प्राचीन के प्रति हो या नवीन के प्रति, है मोह ही। यह प्रसन्नता की बात है कि आचार्य द्विवेदी जी ने जोर देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि परिषद् का 'लोक-साहित्य के अध्ययन का उद्देश्य पुनःप्रवर्तन का

प्रयास नहीं है' (पृ० ६६) तथा सभापति जी ने भी कहा है कि 'अब तो यह संभव नहीं और न वांछनीय ही है कि इन बोलियों को भाषा का स्थान दिया जाय' (पृ० ६७)। यह अध्ययन तो वस्तुतः व्यापक लोकहित के लिये अनासक्त भाव से ही होना उचित है। हिंदी के विद्वान् यदि इस दृष्टि से कार्य करेंगे तो भारत के विशाल लोक-साहित्य के संपर्क से हिंदी अवश्य समृद्ध एवं शक्तिशालिनी होगी। हमें विश्वास है, 'जनपद' इस संपर्क का समर्थ माध्यम बनकर अनुदिन उन्नति करेगा और उसे सब ओर से, केंद्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों से भी, यथेष्ट सहयोग प्राप्त होगा।

—चित्रगुप्त

झंकार—संपादक श्री रघुपतिसहाय 'फिराक'; प्रकाशक हिंदुस्तानी कलचर सोसाइटी इलाहाबाद; छः पृष्ठों में 'नई शायरी' शीर्षक से भूमिका तथा १६८ पृष्ठों में कविताओं का का संकलन; छपाई सफाई अच्छी; मूल्य ३) रु०।

'नई शायरी' में नई शायरी के संबंध में प्रायः नहीं के समान लिखा गया है और जो कुछ लिखा भी गया है वह प्रचार की दृष्टि से प्रकाशकों के समान पुस्तक ही की प्रशंसा में है। मुसलमानगण हिंदी शब्दों को फारसी रूप देते थे; जैसे कन्नौज को 'क़नौज'। परंतु उर्दू के हामी हिंदू शायर यदि हिंदी शब्दों को भ्रष्ट कर दें तो कोई आश्चर्य नहीं। फिराक' जी ने अनगिनत, शरनार्थी, आशा, प्रेरना, भाशन बिवरनपूर्न चित्रन, विशय आदि रूप देकर 'उर्दू को हिंदी से बाजी मार ले जाने दिया है' या 'उस खड़ी बोली का सबसे जगमगाता हुआ रूप' प्रकट करने को ऐसे रूप दिए हैं। आपने एक अनूठी बात यह भी कही है कि 'हिंदी जानने के लिये उर्दू जानना जरूरी हो गया है' और जिस खड़ी बोली की बुनियाद पर 'हिंदी का महल खड़ा करना चाहते हैं......रूप उर्दू वालों ही की रचनाओं में नजर आता है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'फिराक' जी 'उर्दू के जन्म-दिन ही से सादगी के एक ठुमक' पर कुर्बान हैं और यहाँ वहाँ सर्वत्र 'उर्दू हिंदी से बाजी मार ले गई' इस पर फिदा हैं। ठीक है अपनी अपनी पसंद है। 'उर्दू साहित्यकार......किताबी उर्दू-फारसी से अपना दामन छुड़ाने की भी कोशिश करते रहे' पर 'बोलचाल की अरबी फारसी' तो नहीं पिंड छोड़ती। 'विश्वशक्तियों के संघर्श की अनेक झलकियाँ' तथा 'बोलचाल में......साहित्यिकता या अलंकार कूट कूट कर भरा जाना' आदि भी पठनीय हैं।

इस पुस्तक में बहत्तर कविताएँ अनेक शायरों की संकलित की गई हैं, जो सब इन्हीं दस-बीस वर्षों के भीतर की कृतियाँ हैं। चयन सुंदर हुआ है और पाद-टिप्पणी में अरबी-फारसी शब्दों का अर्थ दे देने से पाठकों को विशेष सुविधा हो गई है।

—ब्रजरत्नदास

रोगी परीक्षा—लेखक डाक्टर शिवनाथ खन्ना, एम०बी०बी० एस०, डी० पी-एच०; प्रकाशक एस० पी० खन्ना, थियासाफिकल सोसाइटी, काशी; पृष्ठ सं० ३४०, मूल्य ६)।

रोगी की चिकित्सा के पूर्व चिकित्सक की सारी योग्यता आवश्यक रूप से रोग के निदान, रोगी की परीक्षा, पर केंद्रित होती है। इस परीक्षा के बाद ही चिकित्सा आरंभ होती है। रोगी-परीक्षा की एकाधिक विधियों में एलोपैथिक विधि भी एक है। अनेक कारणों से आज के युग में इसी विधि का बोलबाला है और यही वैज्ञानिक और विश्वसनीय समझी जाती है। प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने प्राप्त साहित्य एवं ज्ञान के आधार पर रोगी-परीक्षा की इसी विधि का विश्लेषण और विवेचन किया है। पुस्तक कई अध्यायों में विभाजित है; यथा रोगी का इतिहास, सामान्य परीक्षा, सांस्थानिक परीक्षा, बाल-परीक्षा।

अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में इस विषय का साहित्य भरपूर है। हिंदी में इस आधुनिक पाश्चात्य विधि पर इस प्रकार की संभवतः यह पहली ही पुस्तक है। लेखक का अटल विश्वास है कि प्राचीन और अर्वाचीन प्रणालियों के भेद-वैषम्य तभी तक हैं जब तक संपूर्ण शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन मातृभाषा में नहीं होता। इसी विश्वास की प्रेरणा से उन्होंने यह पुस्तक लिखी भी। प्राचीन-अर्वाचीन प्रणालियों के भेद-वैषम्य का यह निदान और उसकी यह चिकित्सा भले ही स्थिति का केवल ऊपरी और एकांगी अध्ययन हो, किंतु हिंदी में इस विषय की पुस्तक का आना अवश्य ही विशेष रूप से स्तुत्य है।

पुस्तक की शैली, भाषा और उसमें आए पारिभाषिक शब्दों तथा भूमिका के कुछ वाक्यों से स्पष्ट होता है कि यह पुस्तक विद्यार्थियों के लिये ही लिखी गई है। परंतु आज के विद्यार्थीवर्ग के भाषाज्ञान की दृष्टि से यदि भाषा और शब्द किंचित् सरल और सुबोध रखे जाते तो विद्यार्थियों एवं शिक्षित-समाज के लिये पुस्तक की उपादेयता अधिक बढ़ जाती। व्यावहारिक कठिनाई इसमें हो सकती है, पर व्यावहारिक उपयोगिता भी तो उपेक्ष्य नहीं है।

पुस्तक में जहाँ-तहाँ रेखाचित्र और अंत में विस्तृत शब्दकोश रख देने से इसका महत्त्व और उपयोग बढ़ गया है। ये रेखाचित्र यदि साफ और इनमें से कुछ रंगीन होते तो आकर्षण बढ़ जाता। पुस्तक में यदि वैकारिकी (Pathology) अर्थात् मल, मूत्र, रक्त एवं थूक की परीक्षा पर भी एक अध्याय दे दिया जाता तो इसमें एक संपूर्णता सी आ जाती। एक बात और। लेखक ने आमाशय की सीमा का पता लगाने के लिये सिडलीज पाउडर का प्रयोग सुझाया है। इस विषय में हमें शंका है। आंत्रिक ज्वर या अतिसार के रोगी पर तो यह प्रयोग भयानक उपद्रव ला सकता है।

पुस्तक में प्रूफ की अशुद्धियाँ अधिक नहीं हैं, जो हैं चल जायँगी। पर भाषा में कुछ प्रयोग, जैसे अग्रसर के स्थान पर अग्रसित, तो नहीं ही आने चाहिएँ। छपाई और पृष्ठ-संख्या देखते हुए मूल्य अधिक है।

पुस्तक गंभीर, उपयोगी एवं अपने विषय का हिंदी में प्रथम प्रयास होने के कारण अभिनंदनीय एवं उपादेय है।

—जगदीशशरण शर्मा

समीक्षार्थ प्राप्त

आधुनिक हिंदी पद्य-परिचय—संपादक श्री पृथ्वीनाथ पुष्प; प्रकाशक कपूर ब्रदर्स, श्रीनगर (काश्मीर); १९५२ ई०। मूल्य ?

इंसान के रूप—ले० श्री यशोविमलानंद; प्रकाशक मयूर प्रकाशन, झाँसी; सन् १९५२ ई०। मूल्य १)

कला और संस्कृति—डा० वासुदेवशरण; प्रकाशक साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद; सन् १९५२ ई०। मूल्य ४॥)

कलाकार का दंड—ले० श्री वृंदावनलाल वर्मा; प्रकाशक मयूर प्रकाशन, झाँसी; १९५० ई०। मूल्य १।)

कारावास (कहानियाँ)—ले० श्री यश; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; १९५१ ई०। मूल्य १॥)

गांधीचरितमानस (बालकांड)—ले० श्री बाल जी गोविंद जी देसाई; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; १९५२ ई०। मूल्य ।=)

जीवन-स्मृतियाँ—ले० श्री क्षेमचंद्र 'सुमन'; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; १९५२ ई०। मूल्य १)

तत्त्व समुच्चय—ले० डा० हीरालाल जैन; प्रकाशक भारत जैन महामंडल, वर्धा; १९५१ ई०। मूल्य ३)

तरंगिणी (कविता)—ले० श्री ऋषिशंकर दीक्षित; प्रकाशक अभिमन्यु पुस्तकालय, काशी; २००६ वि०। मूल्य १॥)

दृष्टिकोण (त्रैमासिक), जून १९५२ ई०—संपादक श्री शिवचंद्र शर्मा; प्रकाशक अ० भा० हिंदी शोधमंडल, आर० के० भट्टाचार्य रोड, पटना १; वार्षिक मूल्य १०)

पाटल (मासिक), वर्ष १ सं० १, २, अक्टूबर तथा नवंबर १९५२—संपा० श्री शिवचंद्र शर्मा; प्रकाशक मोहनलाल बिश्नोई, मोहन प्रेस, कदमकुआँ, पटना ३; वार्षिक मूल्य ७)

मरु के टीले (कविता)—ले० श्री परमेश्वर 'द्विरेफ'; प्रकाशक द्विरेफ भवन, चिड़ावा, राजस्थान; १९५२ ई०। मूल्य १)

मरु भारती (चातुर्मासिक), वर्ष १ सं० १, सितंबर १९५२—प्रबंध संपादक आचार्य नित्यानंद; प्रकाशक राजस्थान हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, पिलानी। मूल्य २), वार्षिक ६)

मानस दर्शन डा० कृष्णलाल एम० ए०, डी० फिल०; प्रकाशक स्वयं लेखक, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी; २००६ वि०। मूल्य ३॥)

मालवी कहावतें—ले० श्री रतनलाल मेहता, बी० ए०, एल० एल० बी०; प्रकाशक राजस्थान विद्यापीठ, साहित्य संस्थान, उदयपुर; १९५० ई०; मूल्य २)

मृगनयनी—ले० श्री वृंदावनलाल वर्मा; प्रकाशक मयूर प्रकाशन, झाँसी; चतुर्थ सं० १९५२ ई०। मूल्य ५)

मेघदूत (नाटक)—ले० श्री ब्योहार राजेंद्र सिंह; प्रकाशक मानस मंदिर, जबलपुर; १९५२ ई०। मूल्य २)

मौन के स्वर—ले० श्री० ब्योहार राजेंद्रसिंह; प्रकाशक मानस मंदिर, जबलपुर; १९५१ ई०। मूल्य ॥।)

राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी—ले० महात्मा गांधी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; १९५२ ई०। मूल्य १॥)

रोग परिचय—ले० श्री शिवनाथ खन्ना, एम० बी० बी० एस०, डी० पी० एच०; प्रकाशक एस० पी० खन्ना, थियासाफिकल सोसायटी, बनारस। मूल्य १२॥।)

वर्षा मंगल (रूपक)—ले० श्री ब्योहार राजेंद्रसिंह; प्रकाशक मानस मंदिर, जबलपुर; १६५२ ई० । मूल्य ।=)

वो दुनिया—ले० श्री भगवतशरण उपाध्याय ; प्रकाशक आलोक प्रकाशन, बीकानेर; १६५२ ई० । मूल्य ४)

शक्ति का स्रोत—(उपन्यास)—ले० साओमिंग; अनु० श्री रामगोपालसिंह चौहान ; प्रकाशक आलोक प्रकाशन, बीकानेर ; १६५० ई० । मूल्य २)

शराबबंदी क्यों ?—ले० श्री भारतन् कुमारप्पा; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; १६५२ ई० । मूल्य ॥=)

संस्कृत संस्कृति का विश्व-संदेश—ले० श्री विद्याधर शास्त्री एम० ए०; राजस्थान संस्कृत-साहित्य-सम्मेलन, बीकानेर । मूल्य ?

सचित्र संविधान—ले० श्री इंद्र एम० ए०; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; १६५२ ई० । मूल्य १॥)

साहित्य विवेचन—ले०श्री क्षेमचंद्र 'सुमन', श्री योगेंद्रकुमार मल्लिक; प्रकाशक आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली; १६५२ ई० । मूल्य ७)

साहित्यावलोकन—ले० श्री विनयमोहन शर्मा; प्रकाशक साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद ; १६५२ ई० । मूल्य ३)

सोना—ले० श्री वृंदावनलाल वर्मा; प्रकाशक मयूर प्रकाशन, झाँसी; द्वि० सं० १६५२ ई० । मूल्य ३)

हमारा आहार और गाय—ले० श्री रिषभदास राँका; प्रकाशक रोहित जैन सेवा ट्रस्ट, वर्धा ; १६५२ ई० । मूल्य ॥=)

हरिऔध और उनका प्रियप्रवास—ले० श्री कृष्णकुमार सिन्हा; प्रकाशक राजेश्वरी पुस्तकालय, गया । मूल्य ३॥-)

हिमांचला (कविता)—ले० श्री रामेश्वरप्रसाद खंडेलवाल; प्रकाशक अ० भा० राष्ट्रीय साहित्य प्रकाशन परिषद्, मेरठ । मूल्य २॥)

विविध

स्वर्गीय पं० रामनारायण मिश्र

हमें अत्यंत दुःख के साथ लिखना पड़ रहा है कि बुधवार, शिवरात्रि सं० २००६ (११ फरवरी १९५३) को दो बजे रात्रि में अठत्तर वर्ष की आयु में श्रद्धेय पं० रामनारायण मिश्र का स्वर्गवास हो गया। मिश्र जी काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संस्थापकत्रय में से एक थे और सभा के कार्यों के लिये उनकी चिंता मृत्यु के दिन तक बनी रही। उनके निधन से सभा को जो क्षति हुई है वह बहुत दिनों तक पूरी होनेवाली नहीं।

मिश्र जी का जन्म सं० १९३२ में दिल्ली में हुआ था। बचपन ही में इनके पिता पं० चिरंजीत मिश्र का देहांत हो गया और दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में ये अपने मामा डाक्टर छन्नूलाल के पास काशी चले आए। यहीं इनकी शिक्षा हुई और बी० ए० करने के बाद ये प्रांतीय शिक्षा-विभाग में स्कूलों के सब-डिप्टी इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त होकर जौनपुर गए। तब से बराबर शिक्षा संबंधी कार्यों में लगे रहे। विद्यालय-निरीक्षण के ही कार्य पर ये मिर्जापुर और देवरिया में भी रहे। तत्पश्चात् काशी के हरिश्चंद्र स्कूल और फिर हिंदू स्कूल के प्रधानाध्यापक हुए। वहाँ से अवकाश ग्रहण करने के बाद कुछ समय तक दयानंद कालेज के अवैतनिक प्रधानाध्यापक रहे। सं० १९८४ में मिश्र जी विश्व-शिक्षा-सम्मेलन में भाग लेने के लिये जेनेवा गए थे और १९८७ में उन्होंने हिंदू-स्कूल में प्रथम एशियाई शिक्षा-सम्मेलन का आयोजन किया था।

मिश्र जी स्वास्थ्य एवं शिष्टाचार संबंधी नियमों तथा समय के पालन का स्वयं बहुत ध्यान रखते और दूसरों को भी इसका उपदेश देते थे। उन्होंने भारतीय शिष्टाचार, महादेव गोविंद रानाडे तथा यूरप में छः मास—ये तीन पुस्तकें भी लिखी हैं।

नागरीप्रचारिणी सभा के कार्यों में विशेष रूप से पंडित जी हिंदू स्कूल से अवकाश ग्रहण करने के बाद लगे। नागरी लिपि और हिंदी भाषा के संरक्षण और

प्रचार का प्रयत्न तो वे सदा ही करते रहते थे, परंतु अपने कार्यकाल में उन्होंने सभा की आर्थिक स्थिति भी सुधारने का प्रयत्न किया। सभा के रिक्त स्थायी कोष में उन्होंने एक लाख रुपया जमा करने का संकल्प किया था और उनकी मृत्यु से पूर्व मुख्यतः उन्हीं के प्रयत्न से उसमें एक लाख से अधिक जमा हो चुका था। सभा की समस्त स्थायी दान-निधियों को सुरक्षा की दृष्टि से उन्होंने उत्तर प्रदेश के दान-निधि कोषाध्यक्ष (ट्रेजरर, चैरिटेबल एंडाउमेंट्स) के पास जमा करा दिया था, जहाँ से प्रतिवर्ष उनका व्याज सभा को मिलता है।

मिश्र जी दूसरों से तो सभा के लिये चंदा माँगते ही थे, स्वयं भी उन्होंने सभा को रुपए दिए, जिनसे १६००) अंकित मूल्य के सरकारी कागज डा० छन्नूलाल पुरस्कार निधि के लिये तथा १००) अंकित मूल्य के ग्रीव्ज पदक की निधि के लिये खरीदे गए। सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के लिये उन्होंने अपने निजी संग्रह की १२०० पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ प्रदान कीं जो उनके चिरंजीव के नाम से श्रीशचंद्र संग्रह में पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

उनके उद्योग से ज्वालापुर का सत्यज्ञान निकेतन सभा को प्राप्त हुआ और उसका प्रबंध भी वे स्वयं करते रहे। इधर कुछ समय से मिश्र जी सं० २०१० में सभा की हीरक जयंती मनाने के लिये विशेष उत्साहित रहते थे, परंतु महाकाल ने उनकी वह इच्छा पूरी न होने दी।

नागरीप्रचारिणी सभा के अतिरिक्त इस प्रदेश, विशेषतः इस नगर की कितनी ही शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं को पंडित जी की प्रेरणा तथा सहयोग प्राप्त था। वे बड़े तपे प्राणवान् सार्वजनिक कार्यकर्ता थे।

× × ×

सभा की प्रबंध समिति ने निश्चय किया है कि स्वर्गीय मिश्र जी की स्मृति में उनकी वार्षिकी के अवसर पर (फाल्गुन सं० २०१०, फरवरी १९५४) नागरीप्रचारिणी पत्रिका का श्री रामनारायण मिश्र स्मरणांक निकाला जाय। सभा के इस शुभ संकल्प को पूरा करने का हम यथाशक्य प्रयत्न करेंगे। आशा है इसमें सभा और हिंदी के हितैषी तथा स्वर्गीय मिश्र जी के जीवन एवं कार्यों से सुपरिचित सज्जनों का हमें पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा।

स्वर्गीय अकदमीशियन अलेक्सी बरान्निकोव

प्राच्य-विद्या-प्रेमियों, विशेषतः आधुनिक भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में रुचि रखनेवाले लोगों को यह जानकर दुःख होगा कि सोवियत संघ के प्रसिद्ध प्राच्य-विद्याविद् श्री अकदमीशियन अलेक्सी बरान्निकोव का बासठ वर्ष की अवस्था में विगत ४ सितंबर १९५२ को देहांत हो गया।

श्री बरान्निकोव अध्ययनशील विद्वान् और अध्यवसायी लेखक थे। उन्होंने हिंदी, उर्दू, मराठी, पंजाबी, बंगला आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का सम्यक् अध्ययन किया था। अपनी 'हिंदुस्तानी' नामक पुस्तक में उन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं का विवेचन भाषावैज्ञानिक दृष्टि से किया है। उन्होंने आधुनिक भारतीय साहित्य के इतिहास तथा कई अन्य पुस्तकों और शब्दकोशों की भी रचना की है। उनका हिंदी का भी अध्ययन विस्तृत और सूक्ष्म था। लल्लू जी लाल कृत प्रेमसागर तथा गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस का पहले-पहल रूसी भाषा में अनुवाद उन्होंने प्रस्तुत किया। सब मिलाकर उन्होंने भारतीय साहित्य तथा इतिहास के विषय की लगभग दो सौ पुस्तकें लिखी हैं। इस प्रकार अपने अध्ययन के विस्तृत क्षेत्र में उन्होंने बड़े परिश्रम और लगन से कार्य किया। इतना ही नहीं, वे अपने पीछे ऐसे विशिष्ट प्रशिक्षित शिष्यों की एक परंपरा छोड़ गए हैं जो उनके कार्य को बराबर आगे बढ़ाते रहेंगे।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका तथा नागरीप्रचारिणी सभा से श्री बरान्निकोव का बहुत पुराना संबंध था। वे सभा के साधारण सभासद् तथा मृत्यु के पहले तक इसकी प्रबंध-समिति के सदस्य थे।

ऐतिहासिक सिद्धांतों पर संस्कृत शब्दकोश

पूना की 'दक्षिण महाविद्यालय स्नातकोत्तर शोध संस्था' (डेकन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट ऐंड रिसर्च इंस्टिट्यूट) ने ऐतिहासिक सिद्धांतों पर संस्कृत का एक बृहत् शब्दकोश तैयार करने के लिये १ अगस्त १९४८ से एक कोश-विभाग खोला है जिसकी योजना और प्रगति उक्त विभाग की पत्रिका 'वाक्' के प्रथम अंक (दिसंबर १९५१) में 'संपादकीय' में प्रकाशित हुई है।

वैसे इस कोश के अंग रूप में एक अभिलेखीय संस्कृत कोश के संग्रह का कार्य उक्त संस्था सन् १९४२ से कर रही थी और संस्कृत के अप्रकाशित कोशों के

शब्दों का अध्ययन उसने अपने जन्म-काल (१६३६) से ही आरंभ कर दिया था। जब यह आनुषंगिक अध्ययन इतना पर्याप्त हो गया कि मुख्य कोश का कार्य आरंभ किया जा सके, तब संस्था ने आवश्यक व्यय के निमित्त सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से बृहत् कोश के निर्माण की योजना भारत सरकार के पास भेजी। १६४८ में भारत सरकार ने एक वर्ष के लिये आठ हजार रुपया देना स्वीकार किया और उसी अवधि के लिये उतनी ही सहायता बंबई सरकार ने दी। इस सोलह हजार की सहायता से महाविद्यालय ने १ अगस्त १६४८ को तीन शोध-सहायक तथा दो शास्त्री रखकर कोश-संग्रह के लिये अलग विभाग खोल दिया और पहले अभिलेखीय कोश का कार्य आरंभ किया गया, जिसमें पत्रानुक्रमणी (कार्ड-इंडेक्स), के आधार पर संस्कृत के सभी प्रकाशित कोशों का उपयोग किया गया। बड़ोदा सरकार ने तीन हजार रुपए की वार्षिक सहायता दी और बिहार, मैसूर तथा उत्तर प्रदेश की सरकारों ने क्रमशः ढाई हजार, एक हजार तथा तीन हजार रुपए की अनावर्तक सहायता प्रदान की, जिससे तीन वर्ष तक कार्य हुआ।

महाविद्यालय ने १६४८ के पूर्व ही कोश-संबंधी जो प्रारंभिक कार्य कर डाला था उसके प्रति भारत तथा विदेशों के विद्वानों ने पूर्ण सहानुभूति प्रकट की। अंतर्राष्ट्रीय प्राच्य-विद्या सभा ने जुलाई १६४८ के पेरिस अधिवेशन में तथा भारतीय प्राच्य-विद्या सभा ने अपने अक्टूबर १६४८ के दरभंगा अधिवेशन में संस्कृत-कोश-योजना का स्वागत एवं समर्थन किया। प्रोफेसर लुई रेनाउ (Luis Renou) ने १६४८ में विशेष रूप से इसी निमित्त भारत आकर एक न्यूनतम कार्यक्रम तैयार किया, जिसपर भारत और यूरप के संस्कृत विद्वानों ने बहुत अनुकूल सम्मतियाँ दीं और सहयोग का वचन दिया।

इस कोश के कार्य के लिये भारत सरकार के शिक्षा-विभाग ने १६५१-५२ से दस वर्षों के लिये पाँच लाख रुपए की सहायता देना स्वीकार किया। तत्पश्चात् प्रो० लुई रेनाउ के निरीक्षण में पेरिस में भी कोश-विभाग का केंद्र खोला गया। १६५१-५३ के लिये कार्यक्रम इस प्रकार निश्चित हुआ—

(१) पूर्वानुष्ठित आनुषंगिक अध्ययन—(क) अभिलेखीय संस्कृत कोश (भारत में प्रकाशित संस्कृत अभिलेखों के आधार पर); (ख) संस्कृत शब्दकोश (प्रकाशित एवं अप्रकाशित कोशों के आधार पर)।

(२) संस्कृत साहित्य के इन अंगों से सामग्री-संकलन—अर्थशास्त्र, धनुर्वेद, शिल्प, संगीतादि, कामशास्त्र, आयुर्वेद आदि, रसायन, ज्योतिष, गणित, शिक्षा।

(३) कैटेलोगस कैटेलोगोरम और उसके बाद प्रकाशित हस्तलिखित ग्रंथों की सूचियों के आधार पर संस्कृत ग्रंथों तथा ग्रंथकारों का उनकी संक्षिप्त जीवनी सहित पूर्ण पत्रानुक्रमणी (कार्ड-इंडेक्स)।

उक्त अवधि में पेरिस में भी पंद्रह विद्वानों को निर्दिष्ट ग्रंथों से सामग्री-संकलन का भार सौंपा गया और छब्बीस अन्य विद्वानों ने स्वेच्छा से बिना किसी पारिश्रमिक के सामग्री-संकलन में सहयोग दिया।

कोश-निर्माण के कार्य का सामान्य प्रबंध महाविद्यालय की शोध-संस्था करेगी, परंतु कोश-विभाग के संघटन एवं विस्तार आदि का उत्तरदायित्व एक संपादकीय समिति सँभालेगी, जिसमें एक प्रधान संपादक, छः या सात भिन्न भिन्न केंद्रों के प्रतिनिधि भारतीय विद्वान् तथा ब्रिटेन, यूरप और अमेरिका के केंद्रों के संचालक तीन विदेशी विद्वान रहेंगे।

कोश-निर्माण के निमित्त भारत-सरकार की पाँच लाख की सहायता के अतिरिक्त संस्था को निम्नलिखित सहायता प्राप्त हो रही है—

बंबई, उत्तरप्रदेश, हैदराबाद और सौराष्ट्र की सरकारों से क्रमशः दस हजार, पाँच हजार, दो हजार और एक हजार रुपया वार्षिक; पूना, बड़ोदा और राजपूताना विश्वविद्यालयों से क्रमशः पाँच हजार, एक हजार और पाँच सौ रुपया वार्षिक; तथा पेरिस की भारतीय संस्कृति संस्था से एक हजार रुपया वार्षिक।

× × ×

दक्षिण महाविद्यालय की उक्त कोश-निर्माण-योजना प्राच्य-विद्याध्ययन के इतिहास में अभूतपूर्व, एवं महाविद्यालय की कीर्ति के सर्वथा अनुरूप है। उसकी अभी तक की प्रगति इस बात का प्रमाण है कि सुचिंतित सत्संकल्प एवं अध्यवसाय को आवश्यक सहयोग तथा सहायता का कभी अभाव नहीं रह सकता। हम हृदय से इस सत्संकल्प की शीघ्र सफलता की कामना करते हैं और संस्कृत के विद्वानों तथा केंद्र और राज्यों की सरकारों से आशा करते हैं कि वे उक्त कार्य में महाविद्यालय को अधिकाधिक सहयोग और सहायता प्रदान करेंगे।

विश्वविद्यालयों में अनुसंधान कार्य

प्रायः सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में प्रतिवर्ष भिन्न भिन्न विषयों पर अनुसंधान-कार्य होता है और उसपर डाक्टर की उपाधियाँ भी दी जाती हैं।

किस विश्वविद्यालय में क्या कार्य हो चुका है और क्या हो रहा है इसकी निश्चित सूचना प्रायः न अन्य विश्वविद्यालयों में उपलब्ध रहती और न उनके बाहर के अनुसंधायकों को सुलभ होती। इसका परिणाम यह होता है कि एक ही विषय पर एक साथ एकाधिक विद्वान् काम करने लग जाते हैं। इससे जहाँ एक ओर एक ही विषय की पुनः पुनः आवृत्ति होती है, वहाँ दूसरी ओर अन्य आवश्यक विषय अछूते पड़े रह जाते हैं।

इस दुःस्थिति से बचने के लिये हमने विश्वविद्यालयों में होनेवाले भारतीय भाषा, साहित्य, इतिहास, कला, संस्कृति आदि विषयक शोध-कार्यों की सूचना नागरीप्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित कर उसे अनुसंधायकों तथा अन्य विद्वानों के लिये सुलभ करने का इस वर्ष संकल्प किया था और इस विषय में आवश्यक सूचना द्वारा सहयोग देने के लिये कई विश्वविद्यालयों से अनुरोध किया था तथा अन्य से भी कर रहे हैं। हमें हर्ष है कि उनके उत्तर संतोषजनक मिल रहे हैं। आगरा और सागर विश्वविद्यालयों ने तो एतद्विषयक अभीष्ट सूचनाएँ भेज भी दी हैं। इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। ये सूचनाएँ आगामी अंक से प्रकाशित की जायँगी। अन्य विश्वविद्यालयों के अधिकारियों से भी हमें पूर्ण आशा है कि वे प्रतिवर्ष हमें अपने विश्वविद्यालयों में होनेवाले अनुसंधान-कार्यों की सूचना भेजते रहेंगे।

—संपादक